राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का मूल्यांकन

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति

I- पिछले पांच वर्षों का घटनाक्रम

पिछले सम्मेलन के बाद से अब तक बीते पांच वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में कोई महत्वपूर्ण उलट-फेर नहीं हुआ है। घटनाएं मोटा-मोटी पहले से विद्यमान प्रवृत्तियों के अनुरूप ही घटित हुयी हैं। इन घटनाओं ने पांचवे सम्मेलन के अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के हमारे मूल्यांकन को पुष्ट ही किया है।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आम ठहराव के बीच तेजी-मंदी का दौर जारी है। हालांकि वैश्विक पैमाने पर 3 प्रतिशत के आस-पास की वृद्धि दर तथा पिछड़े देशों में पांच प्रतिशत के आस-पास की वृद्धि दर को कोई काफी ज्यादा वृद्धि दर मान सकता है लेकिन इसे यदि फैक्टरियों में लगी हुयी उत्पादन क्षमता के सापेक्ष देखा जाय तो पाया जायेगा कि उत्पादन की क्षमता से काफी नीचे उत्पादन हो रहा है। इफरात पड़ी हुयी, सट्टेबाजी में जौहर दिखाती हुयी पूंजी की तो बात ही छोड़ दी जाय, स्वयं फैक्टरियों में लगी हुयी पूंजी भी पूरी क्षमताभर उत्पादन नहीं कर रही है। इसी तरह लगातार बनी हुयी बेरोजगारी भी ठहराव की इसी प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करती है। वैसे भी परजीवीपन को अभिव्यक्त करती हुयी पूंजी अर्थव्यवस्था के सेवा क्षेत्रों में ही तेज वृद्धि को प्रदर्शित कर रही है। अर्थव्यवस्था के मूलभूत क्षेत्र में कोई तेज उछाल नहीं है।

2001-02 के साल वैश्विक अर्थव्यवस्था में मंदी के साल रहे। उसके बाद किंचित तेजी आई लेकिन 2007 में फिर मंदी के चिह्न प्रकट हो चुके हैं। यानी आम ठहराव के भीतर आई यह तेजी पांच साल भी नहीं टिक सकी।

इस समय सारे साम्राज्यवादी देशों में अमेरिकी अर्थव्यवस्था की सेहत सबसे अच्छी है। हालांकि यह तीखे अंतर्विरोधों से ग्रस्त है और ये अन्तर्विरोध बढ़ते जा रहे हैं। 1990-91 की मंदी के बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था में लगभग दस साल तेजी रही। इसी बीच जापानी अर्थव्यवस्था में वृद्धि दर लगभग शून्य के आस-पास थी तो यूरोपीय अर्थव्यवस्था में 2 प्रतिशत के आस-पास। इससे अमेरिकी अर्थव्यवस्था को बाकियों से थोड़ी बढ़त लेने में सफलता मिली। 2001-02 की तेजी के बाद भी यही बात रही।

लेकिन अमेरिकी अर्थव्यवस्था की यह वृद्धि दर इजारेदार पूंजी की काली करतूतों के साथ हुयी है। जैसा कि बाद में एक के बाद एक उजागर हुए घोटालों से जाहिर हुआ, अमेरिकी इजारेदार कंपनियां एक से एक घोटालों में व्यस्त थीं। एनरान तो इन सबका नमूना मात्र थी। शेयर बाजार का आसमान चढ़ना तथा इजारेदार कम्पनियों के काले धंधे ये सब इजारेदार पूंजी के परम परजीवी चरित्र के ही लक्षण हैं, अमेरिकी साम्राज्यवादियों सहित दुनिया के शासक चाहे इनको जितनी हसरत भरी नजरों से देखें।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था के बरक्स जापानी और यूरोपीय अर्थव्यवस्था में ज्यादा ठहराव बना हुआ है। पिछले चार-पांच सालों में जापानी अर्थव्यवस्था में बेहद मामूली वृद्धि हुयी जबकि यूरोप में इससे थोड़ी ज्यादा। लेकिन यूरोप में बेरोजगारी भयंकर स्तर पर बनी हुयी है।

वस्तुतः बेरोजगारी सारी ही साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्थाओं की आम विशेषता है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था के 1990 के दशक की तेजी के दौरान भी बेरोजगारी में बेहद मामूली कमी आई है। इसे रोजगार विहीन तेजी कहा गया था। उसके बाद तो वह बढ़ी ही। जापान और यूरोप में भी थोड़ा ऊपर नीचे होने के साथ बेरोजगारी जस की तस है – जापान में 5 प्रतिशत के आस-पास तथा यूरोप में 10 प्रतिशत के आस-पास। यहां यह कहने की जरूरत नहीं कि बेरोजगारी के ये सरकारी आंकड़े वास्तविक तस्वीर पेश नहीं करते। वास्तविक बेरोजगारी तो इसकी दुगुनी या तिगुनी है।

अर्थव्यवस्था की इन स्थितियों में साम्राज्यवादी देशों की इजारेदार कम्पनियों– बहुराष्ट्रीय/राष्ट्रपारी कम्पनियों और बैंकों में भीषण गलाकाटू प्रतियोगिता हो रही है और मार-काट जारी है। केवल अपने माल की कीमतें गिराकर तथा डंपिंग के द्वारा ही इन युद्धों के जीतने की कोशिश नहीं की जा रही है। इस जंग में सफल होने के लिए बड़ा से बड़ा

आकार ग्रहण करना जरूरी लग रहा है। विलय और अधिग्रहण की कार्यवाहियां जारी हैं और इजारेदार कम्पनियां ज्यादा से ज्यादा भीमकाय आकार ग्रहण करती जा रही हैं। प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश का 30-40 प्रतिशत हिस्सा इसी में जा रहा है। विलय और अधिग्रहण के साथ व्यवसाय का वैविध्यीकरण भी जारी है जिससे बाजार में टिका रहा जा सके।

यह हैरानी की बात नहीं है कि आज सबसे तेज विकास तीसरी दुनिया के पिछड़े पूंजीवादी देशों में हो रहा है। लेनिन ने अपने जमाने में जिस प्रवृत्ति को चिह्नित किया था वह आज भी जारी है यानी साम्राज्यवादी देशों से पिछड़े देशों में वित्त पूंजी का निर्यात और वहां पूंजीवाद का तेज विकास। यह न केवल वित्त पूंजी की परजीविता को दिखाता है बल्कि यह किसी कदर साम्राज्यवादी देशों में विऔद्योगीकरण को भी जन्म दे रहा है। कई सारे भारी उद्योग और श्रम सघन उद्योग पिछड़े देशों में स्थानांतरित किये जा रहे हैं। लोहा और इस्पात जैसा भारी उद्योग भी अब साम्राज्यवादी देशों की प्राथमिकता नहीं रह गया है। चीन, ब्राजील, भारत जैसे देश अब इसमें अग्रणी हैं।

लेकिन यह समझना भूल होगी कि तीसरी दुनिया के सारे देशों में पूंजीवाद का तेज विकास हो रहा है। यह केवल कुछ देशों तक सीमित है। कुछ देश ही नहीं, क्षेत्र तक इस प्रक्रिया से बाहर हैं। अफ्रीका का अधिकांश हिस्सा इस प्रक्रिया से बाहर है। वहां 1980 व 90 के दशक में साम्राज्यवादी संस्थाओं (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक) की नीतियों से ढाई गई तबाही की अभी भरपाई ही हो रही है। वहां जो थोड़ी-बहुत वृद्धि हो रही है, वह इसकी भरपाई ही है। 'एशियन टाईगर' भी 1997-98 के ध्वंस से उबरने की प्रक्रिया में ही चल रहे हैं।

इस तरह तीसरी दुनिया के कुछ देशों में पूंजीवादी विकास तेजी से हो रहा है। इनमें दक्षिण एशिया व दक्षिण पूर्व एशिया के देश प्रमुख हैं। इसी से पूंजीपति वर्ग के कुछ चाटुकार 'एशियन शताब्दी' की बात भी करने लगे हैं। इसका मतलब यह है कि पूरी इक्कीसवीं सदी में पूंजीवाद बना रहेगा और अब वैश्विक पूंजीवाद में चीन और भारत के पूंजीपति हावी रहेंगे। लेकिन इन चाटुकारों को नहीं पता कि समाजवादी क्रांतियां उनके इस सपने को वक्त से बहुत पहले ही चकनाचूर कर देंगी।

तीसरी दुनिया के केवल कुछ देशों में तेज विकास को इस बात से भी समझा जा सकता है कि तीसरी दुनिया में होने वाले प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अधिकांश हिस्सा केवल दस-एक देशों में ही जाता है। चीन इसमें सर्वप्रमुख है।

लेकिन इन देशों में पूंजीवाद का यह विकास मजदूर-मेहनतकश जनता का विकास नहीं है और न ही इजारेदार पूंजी वहां इनका विकास करने जा रही है। बल्कि ऐसा सोचना भी पूंजीवाद के प्रति आम तौर पर और इजारेदार पूंजीवाद के प्रति खास तौर पर गलत दृष्टिकोण होगा। इजारेदार पूंजी का भारी हिस्सा यहां बनी बनायी परिसम्पत्तियां खरीदने में लग रहा है। वैसे भी इजारेदार पूंजी उन्हीं देशों में, और देशों के उन्हीं क्षेत्रों में जा रही है जहां मुनाफे की गुंजाइश ज्यादा है और माहौल ज्यादा सुरक्षित है।

दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं की इस स्थिति में इजारेदार पूंजी का, साम्राज्यवादी पूंजी का हमला निरंतर जारी है। विश्व व्यापार संगठन (WTO) में दोहा राउन्ड की वार्ताओं पर साम्राज्यवादी तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों को दबाकर उनसे अपनी बात मनवाने में कामयाब हो गये हैं। भारत, ब्राजील जैसे देशों के पूंजीपति वर्ग अपने फायदे को देखते हुए साम्राज्यवादियों की शर्तों को मानने को तैयार हो गये।

दूसरी ओर साम्राज्यवादी पूंजी के दबदबे का आलम यह है कि WTO सारी असमानताओं के बावजूद, पिछड़े देशों पर शिकंजा कसने के लिए उसमें निहित प्रावधानों के बावजूद, जो देश WTO से बाहर रह गये हैं वे इसमें शामिल होना चाहते हैं। साम्राज्यवादी पूंजी उन्हें मजबूर कर रही है कि वे इसमें शामिल हों। चीन-वियतनाम का इसमें शामिल होना इसी को दर्शाता है। रूस इसके लिए प्रयासरत है।

इजारेदार पूंजी आज सारी दुनिया के पैमाने पर कार्यरत है, और कार्यरत है उस तरीके से जैसा वह चाहती है। अब इजारेदार पूंजी और साम्राज्यवादी यह नहीं कह सकते कि दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं या मजदूर-मेहनतकशों की समस्याओं का कारण समाजवाद, कल्याणकारी राज्य या सरकारों के नियम कानून हैं। अब जो कुछ हो रहा है वह इजारेदार पूंजी के तरीके से हो रहा है। तीसरी दुनिया के पूंजीपति वर्ग भी इसी के साथ नत्थी हैं क्योंकि उनका हित भी इसी में है।

तब फिर इजारेदार पूंजी ने दुनिया को क्या दिया है? पिछले पच्चीस सालों में, जब से 'वैश्वीकरण' की नीतियां, निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियां घड़ल्ले से लागू हुयी हैं, तब से समूची दुनिया में मजदूर-मेहनतकश जनता का जीवन स्तर गिरा है। अनेक देशों में, जिसमें अफ्रीका-दक्षिण अमेरिका के देश ही नहीं, स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका भी शामिल है, मजदूरों-मेहनतकशों के एक हिस्से का जीवन स्तर निरपेक्ष तौर पर गिरा है। अमीरी और गरीबी के बीच की खाई बेतहाशा बढ़ी है। यह एक देश के भीतर भी बढ़ी है और अमीर तथा गरीब देशों के बीच भी। यह इस कदर बढ़ी है कि विश्व बैंक जैसी साम्राज्यवादी संस्थाओं को भी इस पर चिंता जतानी पड़ी है। अफ्रीका के तबाह-बर्बाद देशों

को तो कोई पूछ भी नहीं रहा है। साम्राज्यवादियों की दरियादिली का आलम यह है कि ये सबसे गरीब देशों के कुछ सौ अरब डालर के कर्ज माफ करने को भी तैयार नहीं हैं। यहां सवाल कुछ पैसे का नहीं है। कर्ज से मुक्त हो जाने पर ये देश साम्राज्यवादियों के चंगुल में उस तरह नहीं रह सकते जैसे आज हैं। इसलिए साम्राज्यवादी इन्हें कर्जजाल में फंसाएंगे, इनके कर्जे माफ नहीं करेंगे।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से होने वाले मुनाफों, कर्जों, शेयर बाजारों इत्यादि में निवेश के जरिये पूंजी तीसरी दुनिया से अकूत मुनाफा कमा रही है। अब यह बात नई नहीं रह गई है कि साम्राज्यवादी देश इन देशों में जितनी पूंजी लगा रहे हैं, उससे ज्यादा ले जा रहे हैं। यहां तीसरी दुनिया के भ्रष्ट शासकों और पूंजीपतियों द्वारा साम्राज्यवादी देशों में जमा कराये जा रहे काले धन का जिक्र नहीं किया जा रहा है। दक्षिण अमेरिकी देशों की सरकारों ने जितना कर्जा लिया था, उसका एक बड़ा हिस्सा घूस के तौर पर शासकों ने निगल लिया और उसे विदेशों में जमा कर दिया। आश्चर्य नहीं कि अपने देश में उथल-पुथल होने पर ये सीधे साम्राज्यवादी देशों में शरण लते हैं।

कुल मिलाकर साम्राज्यवादी पूंजी समूची दुनिया की मजदूर-मेहनतकश जनता को बेतहाशा लूट रही है। लेकिन जैसा कि पूंजी के चरित्र में ही निहित है और इजारेदार पूंजी भी आखिर पूंजी ही है, इसकी प्यास लूट से और ज्यादा बढ़ती है। और प्यास बुझाने के चक्कर में यह और ज्यादा विग्रहों को जन्म देती है, सारे अंतर्विरोधों को और ज्यादा तीव्र बनाती है तथा अपने खिलाफ मजदूर-मेहनतकश जनता को और ज्यादा गोलबंद करती है। मजदूर-मेहनतकश जनता का इसके प्रति आक्रोश बढ़ता ही जाता है। यह भंति-भांति के प्रतिरोधों और संघर्षों में प्रकट होता है।

पिछले पांच सालों के राजनीतिक घटनाक्रम को सबसे ज्यादा निर्देशित, प्रभावित किया है 11 सितम्बर 2001 की घटना ने। इस घटना ने न केवल अमेरिकी साम्राज्यवादियों को यह अवसर प्रदान किया कि वह अफगानिस्तान जैसे रणनीतिक महत्व के क्षेत्र पर तुरंत कब्जा करे बल्कि उसने इसी चीज को अन्यत्र दुहराने के लिए भी मौका दिया। इसका इस्तेमाल कर उन्होंने इराक पर 2003 में कब्जा कर भी लिया।

सोवियत संघ की चुनौती खत्म होने के बाद से ही अमेरिकी साम्राज्यवादी सारी दुनिया में अपने एकछत्र प्रभुत्व के लिए प्रयासरत हैं। वे इस भ्रम के शिकार हैं कि वे सारी दुनिया पर चुनौती विहीन शासन कर सकते हैं। लेकिन थोड़ा ही संतुलित आकलन किसी के लिए भी साफ कर देता है कि यह संभव नहीं है। चुनौती विहीन तो क्या अमेरिका अपनी 1945 वाली स्थिति भी हासिल नहीं कर सकता। न केवल यूरोपीय संघ (प्रथमतः फ्रांस और जर्मनी) तथा जापान अपितु रूस और चीन भी उसकी स्थिति को चुनौती विहीन नहीं रहने देते। वस्तुतः, अमेरिकी साम्राज्यवादियों के लिए असली समस्या अपनी वर्तमान स्थिति को बनाये रखने की है, उसे और ज्यादा न गिरने देने की है।

लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवादी इतने भर से संतुष्ट नहीं हैं। वे इक्कीसवीं सदी को अमेरिकी सदी बनाना चाहते हैं चूंकि आर्थिक तौर पर वे यह नहीं कर सकते, इसलिए वे इसे सैनिक तौर पर हासिल करना चाहते हैं। जैसा कि पराभव की ओर अग्रसर हर साम्राज्यवादी ताकत के साथ होता है, वे अपनी गिरती आर्थिक हैसियत को सामरिक ताकत से प्रतिपूरित करना चाहते हैं। वे और ज्यादा हमलावर हो रहे हैं और पागलों की तरह कभी इधर तो कभी उधर बम गिरा रहे हैं।

इन अमेरिकी साम्राज्यवादियों में से कुछ ने इक्कीसवीं सदी में अमेरिकी प्रभुत्व की अपनी रूपरेखा तैयार की और जार्ज बुश प्रशासन के तौर पर वे अमेरिका में सत्तारूढ़ भी हो गये। 11 सितम्बर 2001 की घटना ने इन्हें अपनी परियोजना को परवान चढ़ाने को मौका भी दे दिया।

अफगानिस्तान पर कब्जा करना अमेरिकी साम्राज्यवादियों के लिए आसान साबित हुआ। लेकिन जैसे ही इन्होंने इराक पर कब्जे की ओर कदम बढ़ाये, सारी शक्तियां सक्रिय हो गई और सारे अंतर्विरोध उजागर हो गये। अमेरिका के लिए इराक न केवल तेल की दृष्टि से महत्वपूर्ण है बल्कि यह पश्चिम एशिया के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। फ्रांस-जर्मनी-रूस जैसे साम्राज्यवादियों के सामने स्पष्ट हो गया कि इराक पर अमेरिका को कब्जा कर लेने देना घातक होगा। यह अमेरिका के मुकाबले उनकी स्थिति को बहुत कमजोर कर देगा। यह केवल तेल ही नहीं बल्कि रणनीतिक तौर पर भी होगा। इसलिए उन्होंने अमेरिका का विरोध करने की ठानी और इराक पर कब्जा करने के लिए अमेरिकी दावों की कलई खोल दी। चीन भी अपने हितों को देखते हुए अमेरिका के खिलाफ खड़ा हो गया।

अमेरिकी साम्राज्यवादियों की इस मंशा को तीसरी दुनिया के शासक पूंजीपति वर्ग ने भयभीत नजरों से देखा और उसका प्रतिरोध करने की कोशिश की। भारत के पूंजीपति वर्ग ने भी, जो अमेरिका से 'रणनीतिक रिश्तों' के लिए एड़ी चोटी का जोर लगा रहा था, इस हमले से अपने आप को अलग रखा। हालत यह हो गई कि अमेरिका को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में 9 वोट भी नहीं मिले। काफी ज्यादा ललचाने और धमकाने के बावजूद वह कुछ ही मत हासिल कर पाया।

दुनिया की जनता ने भी अमेरिकी साम्राज्यवादियों की इस उद्धत कार्यवाही को अत्यंत आक्रोश से देखा और शुरू से उसका विरोध किया। यह विरोध 15 फरवरी 2003 को चरम पर पहुंच गया जब इराक पर संभावित अमेरिकी हमले के विरोध में एक करोड़ से ज्यादा लोग सड़कों पर उतर आये।

इराक पर हमले के पहले की इन घटनाओं ने साम्राज्यवादियों के संसूबों और उनकी सीमाओं को स्पष्ट कर दिया। अमेरिकी ही नहीं, सभी साम्राज्यवादियों के मंसूबे ये हैं कि वे बाकियों को पछाड़ कर या उन्हें पछाड़ने के लिए हर जगह अपना इजारा कायम कर लें, संभव हो तो दूसरे देशों पर भी। दूसरी ओर उनकी सीमा यह है कि इतिहास इतना आगे बढ़ गया है कि यह उनके लिए अत्यंत मुश्किल है। इस तरह की कार्यवाहियां न केवल उनके बीच के अंतर्विरोधों को बहुत तीखा कर देती हैं, बल्कि दुनिया की जनता को भी उनके खिलाफ खड़ा कर देती हैं। तीसरी दुनिया के शासक भी साम्राज्यवादियों का विरोध करने पर मजबूर हो जाते हैं।

इराक पर अमेरिकी साम्राज्यवादियों द्वारा कब्जा कर लिए जाने के बाद अन्य साम्राज्यवादियों, शासकों ने तथा मेहनतकश जनता ने अपने-अपने चरित्र के अनुरूप अलग-अलग व्यवहार किया। बाकी साम्राज्यवादी लूट के माल में बांट-बखरा करने के लिए आपस में तोल-मोल करने लगे। उन्होंने प्रकारांतर से अमेरिकी कब्जे को मान्यता दे दी। उन्होंने सोचा कि यदि अमेरिकियों को इराक पर कब्जा किये ही रहना है तो हम क्यों पीछे रहें। दूसरी ओर भारतीय शासकों जैसे पिछड़े देश के शासकों ने भी गीदड़ की तरह पीछे से कुछ हासिल करने का प्रयास किया।

इसके मुकाबले दुनिया भर की मजदूर-मेहनतकश जनता ने इस कब्जे का विरोध करना जारी रखा। स्वयं अमेरिका और इंग्लैंड में लाखों लोगों के विरोध प्रदर्शन आयोजित हुए। जहां तक इराकी जनता का सवाल है, उसने पहले दिन से ही इस कब्जे के खिलाफ प्रतिरोध युद्ध छेड़ दिया जो दिनों-दिन बढ़ता गया। हालत यह है कि जहां इराक पर कब्जे की लड़ाई में अमेरिका के कुल डेढ़ सौ सैनिक भी नहीं मरे, वहीं अब यह संख्या 3000 से ऊपर जा चुकी है। घायल सैनिकों की संख्या तो बीसियों हजार है।

इराकी जनता के इस बहादुराना प्रतिरोध से घबराकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने पहले तो सत्ता इराकियों को सौंपने का नाटक किया और फिर इसे सफल न होता देख इराकियों के बीच फूट डालने के लिए भड़कावे की कार्यवाही शुरू कर दी। वे एक हद तक इसमें कामयाब भी हो गये हैं। लेकिन इसके बावजूद, सद्दाम हुसैन जैसे क्रूर तानाशाह की, जो खुद अमेरिकी साम्राज्यवादियों द्वारा ही कभी पालित-पोषित था, अमेरिकियों द्वारा हत्या के बावजूद यह प्रतिरोध युद्ध जारी है और यह अमेरिकी साम्राज्यवादियों को इराक से खदेड़ कर ही दम लेगा। क्या तो अफगानिस्तान, क्या तो इराक, अमेरिकी साम्राज्यवादी इन्हें शांतिपूर्वक लुटने वाले उपनिवेश में तब्दील नहीं कर सकते। वियतनाम में इनकी नियति ही यहां भी इनकी नियति है।

इराकी जनता के बहादुराना प्रतिरोध संघर्ष ने स्वयं अमेरिकी व ब्रिटिश शासक वर्गों के आपसी कलह को बहुत तेज कर दिया है। टोनी ब्लेयर बहुत बेआबरू होकर अपनी लेबर पार्टी द्वारा रुखसत किये जा चुके हैं। जार्ज बुश को भी, 2006 के मध्यावधि चुनावों में करारी हार के बाद, अपने रक्षा मंत्री को, अमेरिकी शताब्दी के पैरोकार को हटाना पड़ा। अमेरिकी शासक वर्गों में इससे उत्पन्न विग्रह का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि न केवल सेना के भूतपूर्व बल्कि वर्तमान अधिकारियों द्वारा भी सरकार की इराक नीति पर सवाल उठाये जा रहे हैं। रम्सफील्ड के इस्तीफे की तो तीनों सेनाओं ने मांग ही कर डाली। अमरिकी जनतंत्र के लिए यह बड़ी घटना है।

लेकिन जैसा कि माओ ने कहा है, साम्राज्यवादी कभी सबक नहीं लेते। वे अपनी फितरत से मजबूर होकर लड़ते हैं और हार जाते हैं, फिर लड़ते हैं और फिर हार जाते हैं तथा इस तरह अंततः अपने आप को नष्ट कर लेते हैं। इराक में अभी अमेरिकी साम्राज्यवादी सांस भी नहीं लेने पाये थे कि उन्होंने ईरान का राग छेड़ दिया। उन्होंने ईरान को भी निशाने पर लेने की कवायद शुरू कर दी। उनका इरादा यह भी हो सकता है कि इस बीच प्रतिबंधों वगैरह से वह जमीन तैयार कर ली जाय जिससे इराक से फुर्सत पाते ही ईरान पर धावा बोला जा सके। लेकिन ईरान पर उन्हें शुरू में ही बाकी साम्राज्यवादियों का तीखा प्रतिरोध झेलना पड़ा। फ्रांस-जर्मनी परमाणु मामले पर अमेरिका की हां में हां मिलाते हुए भी ईरान पर प्रतिबंध लगाने को उत्सुक नहीं हैं। वे दबाव से ही ईरान को झुकाना चाहते हैं। रूसी साम्राज्यवादियों के ईरान में और भी ज्यादा हित हैं। इसलिए वे सीधा, मुखर विरोध कर रहे हैं। चीन भी अपने हितों की खातिर अमेरिका का विरोध कर रहा है। इन सबका नतीजा यह निकला है कि सालभर की मेहनत के बाद भी ईरान पर जो आर्थिक प्रतिबंध लगे वे नाममात्र के थे।

अमेरिका के लिए इसी समय ईरान पर हमला करना बेहद मुश्किल है। पहला, ईरान इराक की तरह युद्ध और प्रतिबंध से जर्जर देश नहीं है। उस पर सद्दाम हुसैन की तरह बेवकूफियों का बहाना भी नहीं चलेगा। महाविनाशक हथियारों का बहाना अब सबकी नजरों में सफेद झूठ होगा। दूसरे, अमेरिका अभी ईराक में फंसा हुआ है जिसकी बहुलांश

आबादी शिया है। ईरान पर हमले से इनकी कायम हुयी एकता अमेरिका को बहुत भारी पड़ेगी। तीसरे, अकेले इराक को संभालने में ही अमेरिकी सैनिक ताकत नाकाफी साबित हो रही है। ईरान पर भी हमला भी इसकी ताकत को उसकी अंतिम सीमा तक खींच देगा। चौथे, दुनिया भर की जनता का प्रतिरोध, जिसमें खुद अमेरिकी जनता का प्रतिरोध भी शामिल है, और भी ज्यादा होगा। पांचवां और अंतिम, यह कि बाकी साम्राज्यवादियों की ओर से इसका प्रतिरोध भी ज्यादा तीखा होगा। इन सबको देखते हुए यदि अमेरिकी साम्राज्यवादी ईरान पर हमला करने की जुर्रत करते हैं तो यह उन्हें बहुत महंगा साबित होगा।

न केवल ईरान, बल्कि उत्तरी कोरिया के मामले में भी अमेरिकी साम्राज्यवादी अपने मन की नहीं कर पा रहे हैं। उत्तरी कोरिया के शासकों ने इन्हें ठेंगा दिखाते हुए परमाणु विस्फोट कर दिया। इसके द्वारा उस पर प्रतिबंध लगाने पर चीन तो क्या दक्षिण कोरिया और जापान भी अमेरिका के साथ नहीं हैं। ये मामले को वहां तक नहीं भड़काना चाहते जहां जाकर समूचा क्षेत्र ही युद्ध की लपेट में आ जाय। इस क्षेत्र में युद्ध का नुकसान अमेरिका को नहीं झेलना पड़ेगा। वह तो दक्षिण कोरिया और जापान को झेलना पड़ेगा।

अमेरिकी साम्राज्यवादियों को केवल फिलीस्तीन में ही कुछ अपने मन का होता दीख रहा है। लेकिन चुनावों में हामास की जीत ने इसमें भी खटाई डाल दी है। इस्राइल के जियनवादी शासकों ने अमेरिकी साम्राज्यवादियों की मदद से 1993 के समझौते को औंधा करते हुए फिलीस्तीन पर अपने कब्जे की कार्यवाही को बढ़ा दिया है। घुटने टेक चुके यासर आराफात ही किनारे नहीं लगाये गये बल्कि फिलीस्तीनी अथॉरिटी भी तहस-नहस कर दी गयी। इसकी हैसियत खत्म कर दी गई। बुश और ब्लेयर चिकनी-चुपड़ी बातें कर रहे हैं परन्तु पर्दे के पीछे वे फिलीस्तीन को पूरा हड़पने की इस्राइल की योजना में योगदान दे रहे हैं।

फिलीस्तीन की जनता का अपने राष्ट्र के लिए वीरतापूर्ण संघर्ष जारी है। अन्य इस्राइल विरोधी भी यहां सक्रिय हैं। लेबनान के हिजबुल्ला ने 2006 में इस्राइल के साथ भिड़ंत में इस्राइल को पीछे हटने को मजबूर किया। इस्राइल के शासक जो चाहें, वे चैन से नहीं बैठ सकते।

यूरोप में दक्षिणपंथी हवा का बहना जारी है। जर्मनी में हुए चुनावों में अंजेला मर्केल के जीतने के बाद अमेरिका से संबंध सुधारने की कवायद होने लगी। इससे मतलब इराक पर दोनों देशों के बीच के संबंध खराब होने के बाद उसे सुधारने से है। फ्रांस में निकोलस सर्कोजी की विजय दक्षिणपंथ की एक और जीत है।

यूरोपीय संघ के राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया में जहां बहुत सारे देशों ने इसके पक्ष में फैसला किया, वहीं पर हालैंड और फ्रांस की जनता ने यूरोपीय संघ के संविधान को नकार दिया। लेकिन इन देशों के शासक वर्ग भी अपने हितों के मद्देनजर इस दिशा में पुरजोर प्रयास जारी रखे हुए हैं।

रूस में पुतिन ने अपनी स्थिति मजबूत की है। हिचकिचाहट भरी शुरूआत के बाद पुतिन अब रूसी साम्राज्यवादियों के हितों को आगे बढ़ा रहे हैं। वे न केवल नाटो के विस्तार का विरोध कर रहे हैं बल्कि पूर्व सोवियत संघ के देशों में बैंगनी- नारंगी क्रांतियां करवाने के अमेरिकी व यूरोपीय साम्राज्यवादियों के प्रयासों का भी विरोध कर रहे हैं। अफगानिस्तान से सटे देशों में अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने जो सैनिक अड्डे कायम कर लिये हैं उन्हें वहां से चलता करने का भी पुतिन जी-तोड़ प्रयास कर रहे हैं। कुल मिलाकर यह कि आर्थिक हालत बहुत अच्छी न होने के बावजूद रूसी साम्राज्यवादी दुनिया के बांट-बखरे में, अपने प्रभाव क्षेत्र कायम करने के मामले में बाकी साम्राज्यवादियों से प्रतियोगिता कर रहे हैं।

लगातार आर्थिक मंदी का शिकार होने के चलते जापानी साम्राज्यवादी वैश्विक मंचों पर उतने मुखर नहीं हैं लेकिन उत्तरी कोरिया जैसे मामलों में वे पूरी भूमिका निभा रहे हैं। शिंजी एबे के नेतृत्व में जापानी साम्राज्यवादियों के सैन्यीकरण की मुहिम जोर पकड़ रही है।

क्यूबाई समाज आज भारी रूपान्तरण से गुजर रहा है। क्यूबा के शासक क्यूबा को तेजी के साथ विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के साथ एकाकार कर रहे हैं। वह न सिर्फ विश्व व्यापार संगठन का हिस्सा बन चुका है वरन् वहां पर विदेशी पूंजी भी अनेक क्षेत्रों में भारी पैमाने पर लग रही है। सहकारी व राजकीय फार्म टूट रहे हैं। देश में बेरोजगारी, वैश्यावृत्ति, अमीर-गरीब की खाई निरन्तर चौड़ी हो रही है। आज क्यूबा राजकीय पूंजीवाद से निरन्तर खुले पूंजीवाद की ओर अग्रसरित है। देर-सबेर खुले पूंजीवाद में रूपांतरण ही इसकी नियति है। यही बात उत्तर कोरिया के बारे में भी कमोबेश सही है, हालांकि उ० कोरिया विश्व व्यापार संगठन का सदस्य नहीं है।

पिछले सालों में गौरतलब परिघटना दक्षिण अमेरिका के देशों में हुयी है। ढेरों सुधारवादियों की नजरों में तो वहां कई देशों में मजदूर राज कायम हो गये हैं अथवा समाजवाद कायम हो गया है। वस्तुतः, ऐसा कुछ नहीं हुआ है। लूला-चावेज परिघटना निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों की प्रतिक्रिया है। दक्षिण अमेरिका के देश उदारीकरण की

नीतियों पर चलने वाले पहले देशों में हैं। वहां 1982 में ऋण संकट तब आया जब बहुत सारे अन्य देशों में ये नीतियां शुरू भी नहीं हुयी थीं। निजीकरण-उदारीकरण की इन नीतियों के चलते 1980 के दशक को दक्षिण अमेरिका के लिए 'गंवा दिया गया' दशक माना जाता है क्योंकि इस दशक में कुल मिलाकर अर्थव्यवस्थाएं नीचे गईं। दशक के अंत में विभिन्न देशों में कई सारे ऐसे लोग चुनाव जीते जिन्होंने निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को पलटने का जनता से वादा किया। लेकिन चुनाव जीतने के बाद उन्होंने इन नीतियों को और जोर-शोर से लागू किया। हालात बदतरीन होते गये और उन्होंने 2001 में अर्जेन्टीना में गंभीर संकट में अपनी अभिव्यक्ति पाई। तब जनता विद्रोह पर उतर आई और एक के बाद कई लोगों को गद्दी छोड़नी पड़ी। अर्जेन्टीना का संकट तात्कालिक तौर पर तो हल हो गया लेकिन दूरगामी तौर पर बना रहा। यही हाल बाकी देशों का भी रहा। इन्हीं हालात में दक्षिण अमेरिका के कई देशों- ब्राजील, वेनेजुऐला, बोलीविया इत्यादि में ऐसे लोग सत्ता में चुन कर आये जो अपने आप को मजदूरों के नेता या समाजवादी कहते हैं। ब्राजील के लूला डी सिल्वा तथा वेनेजुएला के ह्यूगो चावेज इसमें प्रमुख हैं। लूला तो ब्राजील की वर्कर्स पार्टी की ओर से चुनाव जीते।

लूला या चावेज निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के प्रति मजदूर-मेहनतकश जनता के तीखे आक्रोश को प्रकट करते हैं। वे न तो समाजवादी हैं और न ही साम्राज्यवाद विरोधी। ये लोग न तो निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करेंगे और न ही साम्राज्यवाद से आमूल विच्छेद। यहां तक कि यदि ये एक व्यापक कल्याणकारी राज्य कायम कर ले जायें तो भी बड़ी बात होगी। वे केवल जुबानी जमाखर्च करेंगे और जनता के आक्रोश को भुनायेंगे। इस रूप में ये इन देशों के शासक वर्गों यहां तक कि साम्राज्यवादियों के लिए भी फायदेमंद हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि इन देशों में शासक वर्गों में इन्हें स्वीकार्यता प्राप्त है। केवल अपने मुनाफे में जरा भी कटौती बर्दाश्त न कर सकने वाले लोग ही इनका विरोध कर रहे हैं। इस बीच भांति-भांति के सुधारवादियों के लिए इनमें अपना नायक या मॉडल मिल गया है।

चीन एक साम्राज्यवादी शक्ति बनने के मंसूबे पालता है। विगत दिनों चीन के शासक वर्ग आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक हर स्तर पर इसके लिए प्रयास कर रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में सुरक्षा परिषद में चीन की स्थायी सदस्यता इसमें एक योगदान करती है।

ज्यादातर अफ्रीकी देशों के हाल वैसे ही बेहाल हैं। कानून व्यवस्था ध्वस्त होने से लेकर गृहयुद्ध, भांति-भांति के कट्टरपंथ, भुखमरी, अकाल तथा नरसंहार से ये ग्रस्त हैं। साम्राज्यवादियों की करतूतों की बदौलत ये इस बुरी हालत से नहीं निकल पा रहे हैं। साम्राज्यवादी कइयों में तो जानबूझ कर ऐसे हालत बने रहने में योगदान कर रहे हैं। ध्वस्त-जर्जर अफ्रीकी देश साम्राज्यवाद का राक्षसी चेहरा हैं।

साम्राज्यवादियों द्वारा शोषित-उत्पीड़ित और तबाह की जा रही दुनिया में नेपाल ने भिन्न मिसाल पेश की। यहां नेकपा (माओवादी) के नेतृत्व में 1996 से चल रहा गृहयुद्ध आगे बढ़ा और 2006 में वहां पहुंच गया जहां राजशाही को घुटने टेक देने पड़े। हालांकि राजशाही ने अपने घुटने उस आंदोलन के सामने टेके जो सातों संसदीय दलों और माओवादियों ने एक साथ छेड़ा था लेकिन तब भी जन युद्ध के विस्तार और सफलता के बिना यह संभव नहीं था। इसके साथ ही नेपाल में जनवादी क्रांति एक मुकाम तक पहुंच गई। इस समय यह कानूनी-वैधानिक रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया से गुजर रही है।

नेपाल की यह जनवादी क्रांति इक्कीसवीं सदी में हो रही बीसवीं सदी की क्रांति है। यह क्रांतियों की पिछली श्रृंखला की छूटी हुयी क्रांति है। लेकिन इसने नेपाली समाज को एक झटके से उठाकर सभ्य देशों की श्रेणी में पहुंचा दिया है। इसने नेपाली समाज को सामंती मध्ययुगीनता से मुक्त कर दिया है। आज के दुनिया भर के सारे प्रतिक्रियावादी शासकों के लिए, चाहे वे साम्राज्यवादी हों या भारत के पूंजीपति, यह तिलमिला देने वाली बात है। वे तो मध्ययुगीन शक्तियों से तालमेल बैठाये हुए थे। नेपाली क्रांति दुनिया की जनता के लिए निश्चय ही बहुत उत्साहवर्धक घटना है।

सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर पिछले सालों की सबसे बड़ी परिघटना है दूर-संचार क्रांति। यह पिछले सालों में तेज से तेजतर होती गयी है। कम्प्यूटर, इंटरनेट और मोबाइल फोन इत्यादि के जरिये यह समूची धरती को बहुत छोटा बना दे रही है। हालांकि भारत जैसे पिछड़े देशों में फोन धारकों की संख्या कम है तथा इंटरनेट इत्यादि का इस्तेमाल तो और भी कम, लेकिन तब भी समूची दूनिया में सूचनाओं का यह आदान-प्रदान अप्रतिम है। इसने भारत के देहातों तक को चिट्ठी-पत्री से वंचित करना शुरू कर दिया है।

लेकिन इस दूर-संचार क्रांति का इस्तेमाल भी साम्राज्यवादी ही कर रहे हैं। इंटरनेट पर तो अमेरिकी साम्राज्यवादियों का ही कब्जा है। कुल मिलाकर इस क्रांति से अमेरिका की पतित साम्राज्यवादी संस्कृति को दुनिया भर में फैलाने में काफी मदद मिली है। यह हॉलीवुड संस्कृति पिछड़े देशों के गली-मुहल्लों में भी फैलती जा रही है। इंटरनेट का इस्तेमाल लाभदायक सूचनाओं के आदान-प्रदान में कम हो रहा है, पतित संस्कृति के संवहन में ज्यादा हो रहा है।

यदि एक ओर इस पश्चिमी संस्कृति, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादी संस्कृति का बोल बाला है, जो उत्तर आधुनिक होने का दावा करती है तो दूसरी ओर इसके प्रतिध्रुव के तौर पर धार्मिक कट्टरपंथ का भी बोलबाला है। अपनी जड़ो से उजड़े या उजाड़े जा रहे लोग, जो तेजी से फैलते पूंजीवाद-साम्राज्यवाद द्वारा आम जनता पर लादी जा रही अकथनीय तबाही-बर्बादी के शिकार हैं और इसका प्रतिकार करना चाहते हैं वे धार्मिक कट्टरपंथ की शरण ले रहे हैं। क्रांतिकारी आंदोलनों की अनुपस्थिति में धार्मिक कट्टरपन ही उन्हें पूंजीवाद-साम्राज्यवाद का संपूर्ण विकल्प दीख रहा है। वे आधुनिकीकरण की, विकृत आधुनिकीकरण से पैदा हुयी समस्याओं का समाधान मध्ययुगीनता में देख रहे हैं। यह कोई समाधान नहीं है, लेकिन लोग इस ओर जा रहे हैं।

अल-कायदा जैसे धार्मिक आतंकवादी इसी का इस्तेमाल कर अपना आधार विस्तार कर रहे हैं। संघ परिवार जैसे उनके हिंदू सहोदर भी उनसे पीछे नहीं हैं। उन्होंने एक गुजरात के माध्यम से ही इनकी बराबरी करने की पूरी कोशिश की।

फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष, इराकी प्रतिरोध संघर्ष जैसे न्यायपूर्ण संघर्षों में भी धार्मिक कट्टरपंथ का प्रभाव बढ़ा है।

धार्मिक कट्टरता के साथ असहिष्णुता, हिंसा, अपराध तथा पारिवारिक बिखराव इत्यादि बदस्तूर बढ़ती पर हैं। ईश्वर के प्यारे जॉर्ज बुश जैसे लोगों के पास इन सबका कोई समाधान नहीं है।

लेकिन जहां शोषण-अन्याय-अत्याचार है वहां इनके खिलाफ संघर्ष भी है, जहां दमन है वहां प्रतिरोध भी है। मजदूर-मेहनतकश जनता लगातार प्रतिरोध, संघर्ष करते हुए ही जिन्दा है। कहीं यह संघर्ष छिट-पुट हैं तो कहीं व्यापक।

पिछले पांच सालों में दुनिया में सबसे बड़ा प्रतिरोध प्रदर्शन इराक के मसले पर रहा। दुनियाभर की जनता अपनी सहज न्याय चेतना से इस बात को समझ रही थी कि जार्ज बुश चाहे जो बोले, सद्दाम हुसैन चाहे जितना ज्यादा क्रूर तानाशाह हो, इराक पर अमेरिका का हमला नाजायज और गलत है। यूरोप ही नहीं अमेरिका की जनता भी यह सोच रही थी, तीसरी दुनिया की जनता की तो बात ही क्या। जैसे-जैसे इराक पर हमले की संभावना बढ़ती गई, वैसे-वैसे जनता के विरोध प्रदर्शन भी बढ़ते गये। वे चरम पर पहुंचे 15 फरवरी 2003 को। इस तारीख को दुनिया की इंसाफपसंद जनता की एकजुटता विशाल पैमाने पर प्रदर्शित हुयी। इस इंसाफपसंदगी के पीछे छिपी हुई थी साम्राज्यवादियों के प्रति जनता के दिलों की नफरत। यदि दुनिया की मेहनतकश जनता ने इराकी जनता के प्रति यह एकजुटता प्रदर्शित की तो इराक की जनता ने अपने देश पर कब्जा हो जाने के बाद साम्राज्यवादियों के खिलाफ बेहिसाब घृणा और कुर्बानी के जज्बे का परिचय दिया। प्रतिरोध संघर्ष छिड़ते देर नहीं लगी। आज इराक की धरती रोजाना सैकड़ों बम धमाकों से दहल रही है। सैकड़ों इराकी रोज शहीद हो रहे हैं। साम्राज्यवादी सैनिकों का यह आलम है कि वे अपने ग्रीन जोन से बाहर जाने में घबराते हैं। अमेरिकी सैनिकों में आत्म हत्याओं और मानसिक रोगों की भरमार हो गई है।

इराक के पड़ोस फिलीस्तीन में फिलीस्तीनी जनता इस्राइली शासकों के खिलाफ मैदाने जंग में डटी हुयी है। यदि फिलिस्तीनी जनता अपने घरों से बेघर हो रही है तो इस्राइली शासक भी चैन से नहीं बैठ पा रहे हैं। फीलीस्तीन की जनता के वीरतापूर्ण संघर्ष के कारण इस्राइली जनता के भीतर से भी अपनी सरकार के प्रति विरोध के स्वर उठने लगे हैं। ये आवाजें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है, नेपाल की मजदूर-मेहनतकश जनता ने अपने दस साला जनयुद्ध को आगे बढ़ाकर एक मुकाम तक पहुंचा दिया। इनके साथ ही फिलीपीन्स और कोलंबिया में भी सशस्त्र संघर्ष जारी हैं।

फ्रांस के लोगों ने अपनी शानदार परंपरा को कायम रखते हुए अपनी सरकार को मजबूर किया कि वह नयी भर्तियों के सम्बन्ध में अपने कानूनों को वापस ले। इसमें छात्रों ने अगुवाई की।

इसी तरह दक्षिण कोरिया से लेकर दक्षिण अमेरिकी देशों तक मजदूरों-मेहनतकशों ने पूंजी के खिलाफ, अपने शासक वर्ग के खिलाफ अनेक संघर्ष लड़े। पिछले एक-डेढ़ दशक में दक्षिण कोरिया के राजनीतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। द० कोरिया में सैनिक तानाशाहों के स्थान पर पूंजीवादी-जनवादी संसदीय सरकारें अस्तित्व में आयी है। अमेरिकी सेनाओं की उपस्थिति का विरोध लगातार जारी है। अमेरिका को इससे पहले अपने नाभिकीय हथियार खुले तौर पर हटाने पड़े हैं। द० कोरिया के उत्तरी कोरिया के साथ रिश्ते दिनों-दिन सुधरे हैं और उसने अमेरिका के इशारों पर नाचने के बजाय अपनी स्वतंत्र पहलकदमी इस मामले में ली है। द० कोरिया की छटपटाहट नव-औपनिवेशिक तंत्र के दुनिया के पैमाने पर समाप्ति की ओर बढ़ने की सूचक है।

जहां तक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन का सम्बन्ध है उसमें टूट-फूट व बिखराव जारी है। 'रिम' जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन इसमें बेहतरी लाने में असमर्थ हैं। यह इसके बावजूद कि कुछ एक देशों में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन मजबूत हुए हैं।

जैसे-जैसे निजीकरण-उदारीकरण की नीतियां जनता पर कहर बरपा करती गई हैं और जनता के बीच से उसके प्रति स्वर मुखर होते गये हैं, साम्राज्यवादियों और अन्य शासक वर्गों ने जनता को उनके संघर्षों से विमुख करने की कोशिशें भी की हैं। इसके लिए उन्होंने फर्जी संघर्ष और फर्जी मंच खड़ा करने के भी प्रयास किये हैं। विश्व सामाजिक मंच एक ऐसा ही मंच है। यूरोप के सुधारवादी साम्राज्यवादियों द्वारा खड़ा किया गया यह मंच साम्राज्यवादी फंडिंग ऐजेन्सियों द्वारा पालित पोषित है। इसमें तीसरी दुनिया के भी गैर सरकारी संगठनों से लेकर सुधारवादी तक शामिल हैं। ब्राजील की वर्कर्स पार्टी इसकी प्रमुख घटक है। यह मंच साम्राज्यवादियों के लिए एक सेफ्टी वाल्व है। इसके माध्यम से निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों के खिलाफ जनता के आक्रोश को ठंडा किया जा सकता है। यह ऐसा मंच है जहां लोग बात कर हल्के हो सकते हैं।

पिछले सालों में संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी वैश्विक संस्थाओं में सुधार व परिवर्तन की बातें उठती रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की संरचना व विधान 1945 के विश्व के शक्ति संतुलन को अभिव्यक्त करता है। अब जापान, जर्मनी जैसे साम्राज्यवादी देश व भारत, ब्राजील जैसे तीसरी दुनिया के देश इसमें अपनी वर्तमान हैसियत के अनुसार स्थान चाह रहे हैं। विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी संस्थाओं ने पिछले तीन दशकों में साम्राज्यवादियों के हथियार का काम करते हुए तीसरी दुनिया के देशों में निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियां लागू करवाने में महती भूमिका निभाई। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के साथ यह काम एक मुकाम तक पहुंच गया। अब इस दिशा में बाकी काम स्वयं विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से हो रहा है। ऐसे में विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सामने एक तरह से अपनी भूमिका को पुनर्परिभाषित करने का संकट पैदा हो गया है। दूसरी ओर इनके द्वारा थोपी गई नीतियों के दुष्परिणाम झेल रही मजदूर-मेहनतकश जनता में इनके खिलाफ आक्रोश भी बहुत ज्यादा है। इनके झूठे वादे व्यवहारतः झूठे साबित हो गये हैं। ऐसे में इनकी वैधानिकता भी संकटग्रस्त हो गयी है। इन्हीं कारणों से साम्राज्यवादी इन संस्थाओं में सुधार कर इन्हें फिर से अपने लिए मौजूं बनाने में लगे हुए हैं। इन संस्थाओं में सुधार की बातों का सारतत्व यही है। इस बीच दुनिया के तमाम संशोधनवादी-सुधारवादी इन सुधारों के प्रति उत्साह प्रदर्शित करते हुए मजदूर मेहनतकश जनता के सामने विभ्रम पैदा कर रहे हैं (क्योंकि सुधार के बावजूद ये सभी साम्राज्यवादी संस्थाएं ही बनी रहेंगी) और इस तरह पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की सेवा कर रहे हैं।

लेकिन साम्राज्यवादी या अन्य शासक वर्ग चाहे जो सोचें, इस तरह के नुस्खों से शोषित-उत्पीड़ित जनता के आक्रोश को बहुत समय तक नहीं भटकाया जा सकता। समूचा विश्व साम्राज्यवादी पूंजी के तले जो भीषण तबाही झेल रहा है और जिसमें पिछड़े देशों के पूंजीपति भी अपनी भूमिका निभा रहे हैं, वह उसे लगातार विस्फोटक स्थिति की ओर धकेल रहा है। अफगानिस्तान, इराक या फिलीस्तीन तो महज अभिव्यक्तियां हैं। समूचा विश्व नीचे ही नीचे सुलग रहा है। साम्राज्यवादी या अन्य शासक चाहे लाख चाहें, इसे देर-सबेर धधकने से नहीं रोक सकते।

II- दुनिया एक नई दहलीज पर

वक्त की निरंतरता कई बार नई चीजों को देखने से रोक देती है। पेड़ों को देखते हुए पूरे जंगल से गुजरा जा सकता है और पूरे जंगल की विशालता का अंदाज भी नहीं लग पायेगा। वक्त के साथ समूची दुनिया आज एक नई दहलीज पर आ खड़ी हुयी है। वक्त को शताब्दियों में बांटने का मामला इंसान की अपनी सहूलियत के लिए है जिसका इतिहास से कोई लेना-देना नहीं, लेकिन तब भी यह कहना होगा कि जैसे बीसवीं सदी ने रूस की अक्टूबर क्रांति से मानव समाज में एक नये युग का सूत्रपात किया वैसे ही इक्कीसवीं सदी इसे एक नये धरातल पर ले जायेगी। इक्कीसवीं सदी मानव समाज में अतीव संभावनाओं का वाहक सिद्ध होगी।

पहली नजर में यह चीज उतनी स्पष्ट नहीं दीखती लेकिन हकीकत यह है कि पिछले पांच सौ सालों में इतिहास इस या उस तरह से आगे बढ़ता हुआ वहां पहुंच गया है जहां उसने समूचे मानव समाज का चेहरा बदल दिया है। दस्तकारियों-मैनुफैक्चरियों के रूप में पैदा हुआ पूंजीवाद पिछले पांच सौ सालों में औद्योगिक पूंजीवाद में रूपान्तरित होते हुए आज धरती के हर कोने-अंतरे में पैठ गया है। इस काल में पूंजीवाद ने व्यापारिक पूंजीवाद से औद्योगिक पूंजीवाद तक की तथा फिर औद्योगिक पूंजीवाद से इजारेदार पूंजीवाद (साम्राज्यवाद) तक की यात्रा पूरी की। और इसी दौरान इसने धरती पर हर कहीं पूंजीवादी सम्बन्धों का निर्माण कर दिया। इसने हर कहीं अपने सामने खड़ी प्राक्पूंजीवादी संरचनाओं को तहस-नहस कर दिया तथा वहां माल-मुद्रा, श्रम और पूंजी के रिश्तों को कायम कर दिया। जब मार्क्स और एंगेल्स कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र लिख रहे थे तब केवल मुट्ठीभर देश पूंजीवादी सम्बन्धों के तहत थे–इंग्लैंड, फ्रांस,

अमेरिका, हालैंड तथा बेल्जियम। जर्मनी में अभी इसकी शुरूआत हो रही थी। यही नहीं, जब बीसवीं सदी की शुरूआत में लेनिन साम्राज्यवाद का विश्लेषण कर रहे थे तब भी पश्चिमी पूंजीवादी दुनिया के अलावा बाकी देश गैर-पूंजीवादी (अर्द्ध सामंती, सामंती या कबीलाई थे)। तब साम्राज्यवाद और उसके अधीन देशों (उपनिवेशों, अर्द्ध उपनिवेशों) का सम्बन्ध अति विकसित पूंजीवादी देशों और अर्द्ध पूंजीवादी अथवा गैर पूंजीवादी देशों के बीच सम्बन्ध था। साम्राज्यवाद तब इन देशों के शोषण के लिए पूंजीवादी सम्बन्धों के अलावा, मुख्यतः गैर पूंजीवादी संबंधों और शक्तियों पर निर्भर था। भारत जैसे देशों में सामंतों के साथ साम्राज्यवादियों का गठजोड़ जगजाहिर है।

लेकिन बीसवीं सदी बीतते-न-बीतते यह सब कुछ बदल गया। आज कुछ अपवाद देशों को छोड़कर हर जगह पूंजीवादी संबंध कायम हैं। हर जगह शासक पूंजीपति वर्ग हैं चाहे वह विकसित साम्राज्यवादी देश हों या पिछड़े पूंजीवादी देश। आज हर जगह बेशी श्रम बेशी मूल्य के रूप में हड़पा जा रहा है। सभी समाजों में उत्पादन और वितरण माल-मुद्रा के जरिये हो रहा है। हर जगह उत्पादन के साधनों के मालिक मुख्यतः पूंजीपति वर्ग है (पिछड़े देशों में छोटे-मझोले किसानों को छोड़ कर)। हर जगह श्रम करने वाले अपनी श्रम शक्ति बेच रहे हैं। इन रिश्तों के चलते अब साम्राज्यवादी पूंजी पिछड़े देशों में शोषण के लिए गैर पूंजीवादी नहीं, बल्कि पूंजीवादी संबंधों का इस्तेमाल कर रही है। साम्राज्यवादी अब इन देशों में गठजोड़ भी कायम करते हैं तो पूंजीपति वर्ग से। इन देशों में इनका सामाजिक अवलम्ब बदल गया है।

यह सारा परिवर्तन कितना विशाल और व्यापक तथा सर्वग्राही है, वह उपरोक्त वर्णन से उतना स्पष्ट नहीं होता। लेकिन लोगों के जीवन को देखने से चीजें ज्यादा स्पष्ट हो जाती हैं। जब से मानव सभ्यता पैदा हुयी तब से लोगों का मुख्य पेशा खेती रही है और अधिकांश लोग देहातों में रहते रहे हैं। नगरी सभ्यताएं भी खेती पर आधारित थीं। मसलन हड़प्पा की सभ्यता या यूनान की सभ्यता। लेकिन पिछले पांच सौ सालों के पूंजीवादी विकास ने इन सबको बदल दिया है। अब दुनिया के पैमाने पर न तो खेती मुख्य पेशा है, न अर्थव्यवस्था में यह प्रमुख है और न ही आबादी का अधिकांश देहातों में रहता है। आज दुनिया की आधी आबादी शहरों में रहती है जबकि केवल सौ साल पहले महज 10 प्रतिशत आबादी शहरों में रहती थी। यदि चीन और भारत दो देशों को अलग कर दिया जाय तो दुनिया की तीन चौथाई आबादी शहरों में रहती है। अमेरिका जैसे देशों में तो देहात जैसी चीज ही समाप्त हो गयी है। समूचे उत्पाद में खेती का हिस्सा लगातार गिरता गया है। यह भारत जैसे देशों में समूचे उत्पाद का 20 प्रतिशत से लेकर विकसित पूंजीवादी देशों में 2-3 प्रतिशत तक रह गया है। इसके मुकाबले उद्योग और सेवा क्षेत्र प्रमुख हो गये हैं। हालांकि भारत-चीन जैसे देशों में आबादी का आधे से ज्यादा हिस्सा अभी भी खेती में लगा हुआ है, लेकिन विकसित देशों में ही नहीं, जहां यह महज 4-5 प्रतिशत तक या उससे भी नीचे सिमट गया है, मध्यम विकसित देशों में भी यह हिस्सा बहुत कम हो गया है। कहने का मतलब यह कि दुनिया के अधिकांश लोगों का पेशा अब खेती नहीं रहा। यह मानव समाज में घटित होने वाले सबसे बड़े परिवर्तनों में से एक है।

इस के समान्तर यह भी बात है कि अब दुनिया में ऐसे लोगों का विशाल बहुमत है जो अपनी श्रम शक्ति बेचते हैं। यहां तक कि खेती के काम में लगे हुए लोगों में भी बहुमत अपनी श्रम शक्ति बेचने वालों का है। यह तथ्य यदि आखों से ओझल है तो केवल इसीलिए कि श्रम शक्ति बेचने वाले लोग भांति-भांति के पेशों में लगे हुए हैं।

यदि खेती गौण ही नहीं, अति गौण हो गयी तथा लोग देहातों से नगर वासी हो गये, यदि लोग छोटी निजी संपत्ति से वंचित होकर श्रम शक्ति बेचने वाले बन गये तो साथ ही साथ यह भी हुआ है कि पहले कि संयुक्त परिवार टूट बिखर गये। नहीं, परिवार नाम की संस्था ही टूट-बिखर गई। पहले संयुक्त परिवार से एकल परिवार बना और फिर एकल परिवार भी नहीं रहा। बच गये एकल माता या पिता। पहले की लैंगिक और वैवाहिक नैतिकताएं हवा हो गईं तथा बच गया परमाणवीकृत एकाकी व्यक्ति। इतनी बड़ी और इतनी भीड़ भाड़ वाली दुनिया में, बहुत घने संबंधों के बीच खड़ा एकाकी व्यक्ति जो पति, पत्नी या बच्चों से भी ताल-मेल नहीं बैठा पाता। वह प्रवृत्ति अधिकाधिक वास्तविकता बनती जा रही है।

परिवार के इस बिखराव के बराबर ही है धार्मिक विश्वासों का मामला। पांच सौ साल पहले धर्म परलोक ही नहीं, इहलोक में व्यक्ति की नियति तय करता था। वह व्यक्ति के व्यक्तिगत ही नहीं, सार्वजनिक मामलों का भी नियामक था, वह समाज ही नहीं राज्य का भी संचालन करता था। अब धर्म को इस सिंहासन से धकेल दिया गया है। उसे घेर-घारकर इंसान के निजी जीवन तक सीमित कर दिया गया है। यह इस हद तक हुआ है कि पिछले सालों में बढ़ती धार्मिकता या धार्मिक कट्टरता को भी लोग विच्युति के रूप में ही देखते हैं। जो पहले मानव जीवन का सारतत्व था, आज वह विच्युति का कारण बन गया है।

एक अन्य कोण से भी विशाल परिवर्तन का अंदाज होता है। जब फ्रांसीसी क्रांति हुयी, बास्तील का किला फतह किया गया तो पेरिस से दो सौ मील दूर कोजेनबर्ग में इमैनुएल कांट तक खबर को पहुंचाने में 14 दिन लग गये थे। आज

इस घटना का सारी दुनिया में 'लाइव' प्रसारण हो रहा होता। काठमांडू में राजमहल से 1 किमी दूर खड़ी क्रांतिकारी जनता को सारी दुनिया देख रही थी। मार्क्स के जमाने में भी भारत या अमेरिका से खबर पहुंचने में एक महीने का समय लग जाता था। टेलीग्राफ, टेलीफोन के आविष्कार के बाद कम होती हुयी यह दूरी आज संचार के मामले में शून्य हो गयी है। आज खबर उसी समय सारी दुनिया में, और वह भी जीवित (टीवी कैमरे से) पहुंच सकती है। सारी दुनिया के पैमाने पर आमने सामने बातें की जा सकती हैं (वीडियो कांफ्रेंसिंग)। हद तो यहां तक हो गई है कि दूर बैठकर सर्जरी के आपरेशन भी किये जा सकते हैं। विमान की तेज गति भौतिक संचरण की दूरी को भी बहुत कम कर दिया है। सारी धरती को कुछ घंटों में नापा जा सकता है।

विज्ञान-तकनीक के विकास ने और पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रसार ने सारी दुनिया का चेहरा बदल दिया है। एक ऐसी दुनिया अस्तित्व में आ गई है जिसकी पांच सौ साल पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी। लेकिन साथ ही इसने शोषण, दमन-उत्पीड़न की भी ऐसी दुनिया कायम की है जैसी पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी। तीर-धनुष या तलवार से लड़ने वाले आज के परमाणविक युद्ध या हाई टेक युद्ध की कल्पना नहीं कर सकते थे और न ही उसके द्वारा लाई गई तबाही की। अभी सौ साल पहले तक नौ सेना और थल सेना ही प्रमुख थी। आज वायु सेना का वर्चस्व सारी दुनिया के सामने जाहिर है। और साथ ही जाहिर है वह परिघटना जिसमें भीषण प्रचुरता के बीच लोग भूख से मरते हैं। पिछले पांच सौ साल में सभ्यता असीम ऊंचाई तक पहुंची है तो बर्बरता भी।

आज पूंजीवादी सम्बन्धों के तहत जीने वाली यह समूची दुनिया एक एकीकृत विश्व पूंजीवाद के तहत जी रही है जो कि साम्राज्यवाद के आधिपत्य में है, जो उसके द्वारा नियंत्रित और नियमित है। यानी दुनिया के पैमाने पर एकीकृत विश्व पूंजीवाद कायम है जो साम्राज्यवाद के आधिपत्य में है जो उसके द्वारा नियंत्रित और नियमित है। साम्राज्यवाद का होना ही यह दिखाता है कि यह एकीकृत दुनिया भी साम्राज्यवादी देशों और उसके द्वारा शोषित-उत्पीड़ित देशों में विभाजित है। साम्राज्यवादी चूंकि आपस में लूट के बंटवारे को लेकर भीषण संघर्षरत होते हैं, इसलिए इस स्तर पर भी दुनिया बंटी हुयी है। दुनिया मजदूरों और पूंजीपतियों में, श्रम शक्ति बेचने वालों में और खरीदने वालों में तो बंटी ही हुयी है। एकीकृत विश्व पूंजीवाद इन विभाजनों तथा इनके बीच के तीखे अंतर्विरोधों के साथ ही एकीकृत विश्व पूंजीवाद के रूप में काम कर रहा है। ये बुनियादी अंतर्विरोध ही इस एकीकृत विश्व पूंजीवाद को गति प्रदान कर रहे हैं। इनमें पूंजी और श्रम के बीच अंतर्विरोध प्रधान है और पूंजी इसमें प्रधान पहलू है।

साम्राज्यवाद सारी दुनिया के पैमाने पर काम करता हुआ विकसित पूंजीवादी देशों का इजारेदार पूंजीवाद है। लेनिन के जमाने की तरह ही वित्त पूंजी सारी दुनिया में मुनाफे की तलाश में खाक छान रही है। विकसित पूंजीवादी देशों के इजारेदार निगम सारी दुनिया के बाजार पर कब्जा जमा रहे हैं, उसका आपस में बंटवारा कर रहे हैं। कच्चे माल के स्रोतों, खासकर तेल के लिए आपाधापी मची हुयी है। अब चूंकि उपनिवेशों के रूप में विभिन्न क्षेत्रों पर इजारा कायम करना संभव नहीं है, इसलिए प्रभाव क्षेत्रों के लिए, कूटनीतिक व वित्तीय जाल में फंसाने के लिए साम्राज्यवादी देशों के बीच भीषण प्रतियोगिता चल रही है। संक्षेप में, विकसित देशों की इजारेदार पूंजी पूर्णतया सक्रिय और कार्यरत है और संपूर्ण विश्व उसका कार्यक्षेत्र है। पिछड़े देशों की पूंजी इसके कनिष्ठ साझेदार की हैसियत से इसके साथ लगी हुयी है।

पिछले पच्चीस-तीस सालों में विकसित देशों की इजारेदार पूंजी ने सारी दुनिया के पैमाने पर उत्पादन व वितरण का पुनर्गठन किया है। इसे ही इस पूंजी के प्रवक्ताओं ने वैश्वीकरण का नाम दिया है। अफ्रीकी व दक्षिण अमेरिकी देशों से शुरू करके इंग्लैंड-अमेरिका होते हुए पश्चिमी यूरोप और फिर सोवियत खेमे के देशों तथा अंततः सारी दुनिया में इजारेदार पूंजी ने क्रमशः अपने हिसाब से उत्पादन और वितरण का पुनर्गठन किया है। विकसित पूंजीवादी देशों में कल्याणकारी राज्यों का खात्मा, सोवियत खेमे के देशों का खुले पूंजीवाद में आत्मसातीकरण, तीसरी दुनिया के देशों की आयात प्रतिस्थापन मूलक बंद अर्थव्यवस्थाओं का ढांचागत पुनर्संयोजन,'एशियाई टाइगरों' की निर्यात मूलक बंद अर्थव्यवस्थाओं का खोला जाना, चीन-वियतनाम-क्यूबा का 'बाजार समाजवाद' की ओर बढ़ना इत्यादि सभी मूलतः एक ही प्रक्रिया के विभिन्न पहलू हैं। 1970 के दशक तक ये सभी अर्थव्यवस्थाएं अलग-अलग तरह से संचालित थीं। मूलतः पूंजीवाद होते हुए भी सबका पूंजीवाद अलग-अलग तरह का था (यहां 1976 के बाद के चीन की बात हो रही है)। लेकिन उसके बाद जो प्रक्रिया शुरू हुयी और जिसे आम तौर पर निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण का नाम दिया गया, उसके तहत इन सबकी विशिष्टता के बावजूद ये सब एक ही दिशा में बढ़ीं– विकसित देशों की इजारेदार पूंजी के हिसाब से वैश्विक एकीकरण की तरफ- और दो तीन दशकों के भीतर इसने वैश्विक पूंजीवाद का निर्माण कर दिया जो साम्राज्यवाद द्वारा नियंत्रित, नियमित तथा उसके आधिपत्य में है।

सारी दुनिया के पैमाने पर उत्पादन और वितरण के पुनर्गठन ने इजारेदार पूंजी को, साम्राज्यवादियों की वित्त पूंजी को अभूतपूर्व गतिशीलता प्रदान की है। आज वित्तपूंजी पर उस तरह के प्रतिबंध नहीं हैं जैसे 1950 व 60 के दशक में थे।

तब सोवियत खेमे के देशों में ही नहीं, तीसरी दुनिया की अपेक्षाकृत बंद अर्थव्यवस्थाओं में ही नहीं, स्वयं साम्राज्यवादी देशों में इस पर कई प्रतिबंध थे। ये प्रतिबंध द्वितीय विश्व युद्ध के पहले की घटनाओं, मजदूर वर्ग के संघर्षों, समाजवाद तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ऐतिहासिक उत्पाद थे। आज देशों के भीतर और एक देश से दूसरे देश के बीच ये प्रतिबंध लगभग समाप्त हो गये हैं। इजारेदार पूंजी, वित्त पूंजी अधिकतम मुनाफे की तलाश में जहां चाहे वहां अपनी इच्छा से आ-जा रही है। संचार और यातायात के साधनों के विकास ने उसकी इस आवाजाही को अत्यन्त सुगम बना दिया है। चूंकि प्रत्यक्ष उत्पादन में पूंजी निवेश की सीमाएं है, पूंजीवाद के तहत बाजार की क्रय शक्ति एक हद से ज्यादा नहीं बढ़ सकती, इसलिए वित्त पूंजी का भारी हिस्सा सट्टेबाजी में लग रहा है। और वित्त पूंजी की गतिशीलता अर्थव्यवस्थाओं के लिए अत्यंत घातक स्थितियां पैदा कर रही है। पिछले दशक भर में दसियों देश वित्त पूंजी की तबाही के शिकार हो चुके हैं।

वित्त पूंजी की यह गतिशीलता श्रम शक्ति की गतिहीनता के चलते और ज्यादा मारक है। इसने श्रम शक्ति की सौदेबाजी की क्षमता को बहुत ज्यादा सीमित किया है। प्रथम विश्व युद्ध के पहले तक दुनियाभर में पूंजी की तरह श्रम शक्ति भी गतिशील थी। लगातार औद्योगीकृत होते हुए यूरोपीय देशों की बेशी आबादी ज्यादा औद्योगीकृत देशों में या समुद्र पार के विरल आबादी वाले उपनिवेशों में पलायन कर जाती थी। यूरोप से दुनिया भर में गोरी आबादी इसी तरह फैली (इसके मुकाबले काली या भूरी आबादी दुनिया भर में गुलाम या बंधुआ मजदूर के रूप में ले जायी गई)। आबादी के इस पलायन से मजदूरी के समरूप होने में अपेक्षाकृत मदद मिली थी। लेकिन आज श्रम शक्ति की गतिशीलता अत्यंत कम है। खासकर विकसित देशों की ओर श्रम शक्ति की गतिशीलता बहुत ज्यादा बाधित है। इस कारण से और विकसित और पिछड़े देशों में जीवन स्तर के विशाल फर्क से, जो बढ़ता ही जा रहा है, पिछड़े देशों की श्रम शक्ति काफी सस्ती पड़ रही है जिसका इस्तेमाल करने के लिए इजारेदार कंपनियां अपना उत्पादन इन देशों में स्थानांतरित कर रही हैं। विकसित देशों में पूंजी व श्रम शक्ति के विवाद में पूंजीपति कई बार अपना उत्पादन स्थल ही स्थानांतरित कर देते हैं। इसकी संभावना ही श्रम शक्ति की सौदेबाजी की क्षमता को तोड़ने के लिए काफी है।

न केवल श्रम शक्ति की कम कीमत बल्कि कच्चे माल की नजदीकी, जहां बेचना है उससे नजदीकी, कर की रियायतें, सीमा शुल्क व अन्य बाधाओं से मुक्ति इत्यादि वे कारण हैं जिससे फायदा उठाने के लिए इजारेदार पूंजी सारी दुनिया के पैमाने पर अपने उत्पादन और वितरण का पुनर्गठन कर रही है। कई भारी व अन्य उद्योगों का तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों में स्थानांतरण, उत्पादन का कल-पुर्जों के हिसाब से सारी दुनिया के पैमाने पर केन्द्रीकृत विकेन्द्रीकरण, कल-पुर्जों की सारी दुनिया में आउट सोर्सिंग, बी.पी.ओ. इत्यादि के जरिये यह पुनर्गठन सम्पन्न किया जा रहा है। भारी पैमाने पर इजारेदार कंपनियों का आपस में विलय और अधिग्रहण तथा पिछड़े देशों की परिसम्पत्तियों का अधिग्रहण इसी पुनर्गठन की प्रक्रिया का हिस्सा हैं। इन सबसे न केवल उत्पादन का वैश्विक पैमाने पर समाजीकरण बढ़ रहा है बल्कि वैश्विक पैमाने पर श्रम विभाजन को नये तरह से तय किया जा रहा है। साम्राज्यवादी देशों की सरकारें, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन यहां तक कि गैर सरकारी संगठन सब इस काम में लगे हुए हैं। कहने की जरूरत नहीं कि तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों की सरकारों की इन सब में अपनी एक भूमिका है।

आज तीसरी दुनिया के पिछड़े पूंजीवादी देशों के निर्यात में कृषि उत्पादों और कच्चे माल के मुकाबले मैनुफैक्चरिंग उत्पादों की प्रमुखता हो गई है। बीसवीं सदी की शुरूआत में ऐसा नहीं था। तब इन देशों के निर्यात में प्रमुखता कृषि उत्पादों और कच्चे मालों की थी हालांकि कुछ मध्यवर्ती माल भी साम्राज्यवादी देशों की ओर निर्यात होते थे। पिछड़े देशों के निर्यात की संरचना में यह फर्क इनके बढ़ते औद्योगीकरण, इनमें बढ़ते पूंजीवादी सम्बन्धों का द्योतक है। यह वैश्विक श्रम विभाजन में बदलाव का भी द्योतक है।

जिस हद तक साम्राज्यवादी देशों ने अपने यहां से भारी श्रम सघन उद्योगों को पिछड़े देशों में स्थानांतरित किया है उस हद तक उनके यहां विऔद्योगीकरण हुआ है। संयुक्त राज्य अमेरिका से लेकर इंग्लैंड तक ऐसे समूचे क्षेत्र हैं जहां पहले औद्योगिक केन्द्र होते थे लेकिन आज वे वीरान हैं। इस विऔद्योगीकरण के चलते इन देशों की परोपजीविता बढ़ी है। ज्यादा से ज्यादा आबादी गैर उत्पादक कामों में लगती गई है जबकि ज्यादा से ज्यादा पूंजी सट्टेबाजी या अन्य तरीकों से मुनाफा कमाने में।

साम्राज्यवादी देशों से तीसरी दुनिया के देशों में कुछ भारी और श्रम सघन उद्योगों का स्थानांतरण, कल-पुर्जों का विकेन्द्रीकृत उत्पादन, कल-पुर्जों की आउट सोर्सिंग तथा मध्यवर्ती मालों और श्रम सघन मालों के तीसरी दुनिया से आयात के चलते तीसरी दुनिया के देशों का औद्योगीकरण बढ़ा है। इन प्रवृत्तियों को लेनिन के जमाने में ही चिह्नित किया गया था लेकिन आज वे कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर काम कर रही हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि साम्राज्यवादी देशों और इन देशों के बीच समानता बढ़ रही है। बात इसकी उलटी है। समानता बढ़ने के बदले असमानता बढ़ी है। पूंजीवाद

और खासकर साम्राज्यवाद देशों के बीच, एक देश के भीतर क्षेत्रों के बीच तथा उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानता को बढ़ाता है। आज भी यही हो रहा है। न केवल साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के बीच आय की असमानता बढ़ी है (प्रति व्यक्ति आय) बल्कि तकनीक और उत्पादन की गुणवत्ता में भी असमानता बढ़ी है। तीसरी दुनिया में दोयम या तीसरे स्तर की तकनीक ही हस्तांतरित की जा रही है। उद्योग के आधुनिकतम क्षेत्र और तकनीक साम्राज्यवादियों ने अपने पास ही रखे हैं। नये उभरते क्षेत्रों– कम्प्यूटर, इलेक्ट्रॉनिक, बायोटेक्नालॉजी इत्यादि– पर उनका पूर्णतया एकाधिकार है। यही नहीं, WTO के तहत उन्होंने तकनीक में किसी हस्तांतरण पर अपना इजारा सख्ती से कायम किया है।

इजारेदार पूंजी द्वारा नियंत्रित विश्व में बढ़ती असमानता इस बात से भी स्पष्ट होती है कि तीसरी दुनिया के सभी देशों का एक सा औद्योगीकरण नहीं हो रहा। कुछ देश आगे बढ़ रहे हैं और मध्यवर्ती स्थिति तक जा पहुंचे हैं तो कुछ इस प्रक्रिया से छूटे किनारे पड़े हुए हैं। दक्षिण अमेरिका व अफ्रीका के कुछ छोटे देश अभी 'मोनोकल्चर' या एक दो कच्चे माल के निर्यात पर निर्भर हैं। यही नहीं, तीसरी दुनिया के औद्योगीकृत हो रहे देशों में कबीलाई, मध्ययुगीन सामंती तथा विकसित पूंजीवादी दुनिया तीनों एक साथ देखने को मिल जाती है। इन देशों का औद्योगीकरण इनके बीच असमानता और असंतुलन को बढ़ा ही रहा है।

यह सच है कि इजारेदार पूंजी के नियंत्रण में दुनिया के उत्पादन और वितरण में हो रहे इस पुनर्गठन में तीसरी दुनिया के देशों में छोटे और मझोले उद्योग किसी हद तक संकट ग्रस्त हुए हैं। लेकिन यह कहना ठीक नहीं होगा कि इन देशों का विऔद्योगीकरण हो रहा है। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि पहले की स्वतंत्र छोटी और मझोली इकाइयां अब इजारेदार पूंजी के नियंत्रण में चली जा रही हैं। लघु उद्योगों के क्षेत्रों में बड़ी पूंजी को छूट देने की नीति का मकसद भी यही है। भारत जैसे देशों में गरीब आबादी द्वारा उपभोग किये जा रहे ज्यादातर माल यूरोप और अमेरिका में उत्पादित ही नहीं किये जाते इसलिए उनके संदर्भ में विऔद्योगीकरण की बात करना बेमानी है। औद्योगिक विकास के आंकड़े भी विऔद्योगीकरण की किसी प्रवृत्ति को प्रदर्शित नहीं करते।

वैश्विक पैमाने पर इजारेदार पूंजी द्वारा उत्पादन और वितरण का जो पुनर्गठन किया जा रहा है, उसके चलते पूंजी को श्रम के मुकाबले कई लाभ हासिल हो गये हैं। वैसे भी पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी श्रम पर हावी होती है तथा श्रम कभी-कभी ही और वह भी तात्कालिक तौर पर पूंजी से जीत पाता है। उत्पादन और वितरण के पुनर्गठन ने पूंजी की स्थिति को बहुत मजबूत बना दिया है। द्वितीय विश्व के बाद पूंजी और श्रम के बीच ऐतिहासिक समझौते में पूंजी पर जो प्रतिबंध लगे थे, उस पर जो सीमाएं बांधी गई थीं, पूंजी ने उसे तोड़ डाला है। उसने उनसे मुक्त होकर लगभग पूर्ण गतिशीलता हासिल कर ली है जबकि श्रम अभी उन्हीं सीमाओं में कैद है।

आज मजदूर वर्ग की जो भी पार्टियां विद्यमान हैं (सुधारवादी कम्युनिस्ट पार्टियां, समाजवादी और सामाजिक जनवादी पार्टियां तथा लेबर पार्टियां इत्यादि), जो संगठन विद्यमान हैं तथा इन्होंने अतीत में समझौते में जो रियायतें हासिल की थीं, वे सब इस पुनर्गठन के चलते खटाई में पड़ गये हैं। पुराने आधार पर और पुराने जमाने के होने के चलते ये पार्टियां और संगठन निष्प्रभावी हो गये हैं। ये पार्टियां और संगठन मजदूर आंदोलन में पूंजीपति वर्ग के एजेन्ट थे और 'समझौते' में इन्होंने मजदूर वर्ग के लिए कुछ रियायतें जुटाई थीं, लेकिन जब पूंजी ने अपने मुनाफे को बढ़ाने की खातिर समझौते को तोड़ डाला तथा पुराने आधार को छिन्न-भिन्न करना शुरू कर दिया तो ये निष्प्रभावी हो गये। यही नहीं, इन पार्टियों ने पूंजी के इस पुनर्गठन अभियान को सत्ता में रह कर अंजाम भी दिया।

इजारेदार पूंजी के पुनर्गठन की इस प्रक्रिया के खिलाफ श्रम द्वारा अभी तक चलाए गये सभी संघर्ष या तो पूर्णतया निष्प्रभावी रहे हैं या वे केवल इस प्रक्रिया को किंचित धीमा कर पा रहे हैं। इस प्रक्रिया को रोकने या पलटने में उन्होंने कामयाबी हासिल नहीं की है। और पुराने धरातल पर संघर्ष चलाने के कारण यह हो भी नहीं सकता। अभी तक चलने वाले संघर्ष चूंकि पुराने धरातल पर, पुराने संगठनों के तहत, पुराने तरीके से होते रहे हैं इसलिए इनका निष्प्रभावी होना लाजिमी भी है। एक मायने में तो ये प्रतिक्रियावादी भी हैं। ये अभिजात मजदूर वर्ग द्वारा, मजदूरों के उस संस्तर द्वारा जो व्यापक मजदूर हितों से गद्दारी कर अपने पूंजीपति वर्ग से जा मिला था, अपनी खुद की बेहतर स्थिति और सुविधाओं को बचाने की कोशिश हैं। इनमें व्यापक मजदूर आबादी और व्यापक मजदूर हित के सरोकार नहीं हैं। नया संघर्ष इजारेदार पूंजी द्वारा किये गये पुनर्गठन के नये धरातल पर ही हो सकता है। यह नये संगठन और संघर्ष के नये तरीकों की मांग करेगा।

पूंजीवाद असमान, झटकों में विकास करता है। देश और काल में इसमें विकास की गति सम नहीं होती। विकास का एक ऐसा ही चरण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का था। करीब तीन दशकों का यह चरण न केवल विकसित पूंजीवादी देशों में बल्कि बाकी दुनिया में विकास का समय था। विकसित पूंजीवादी देशों में वृद्धि दर तेज रही। तीसरी

दुनिया के नव आजाद देशों में पूंजीवादी संबंधों का विकास हुआ। संशोधनवादी हो गये सोवियत खेमे के देशों में भी विकास की दर ठीक-ठाक बनी रही। विकसित देशों में विकास की तेज गति के चलते ही, युद्धोत्तर काल की समृद्धि के चलते ही इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां सुधारवादी हो गईं। युद्धोत्तर सम्पन्नता और तीसरी दुनिया से कमाये जा रहे अतिलाभ ने इन्हें भी ग्रस लिया। जब ख्रुश्चोव सोवियत संघ में सत्ताशीन हुआ तो इन पार्टियों के उसके साथ चले जाने का, उसके संशोधनवाद को अपनाने का पूरा आधार तैयार हो चुका था।

और जब 1970 के दशक में पूंजी का ठहराव का संकट शुरू हुआ तो पूंजी ने अपने मुनाफे को बढ़ाने की खातिर क्रमशः निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। 1980 के दशक से इसने वैश्विक पैमाने पर पुनर्गठन का रूप ले लिया। पूंजी तो, इजारेदार पूंजी तो अपनी जरूरतों के मुताबिक पुराने चरण को छोड़कर, बल्कि धता बताकर आगे बढ़ गई लेकिन श्रम उसी काल में पड़ा रहा। वैसे आम तौर पर होता भी यही है। पूंजी और श्रम के रिश्तों में प्रधानता के चलते पूंजी पहले कार्यवाही करती है और श्रम बाद में उसकी प्रतिक्रिया करता है। पूंजी की यह गति ज्यादातर वस्तुगत होती है, कहीं जाकर ही वह बाद में पूंजीपति या पूंजीपति वर्ग की सचेत कार्यवाही बनती है। बात यह है कि पूंजी अपनी मौत की कीमत पर ही अपने मुनाफे के रास्ते की बाधा को सह सकती है। पूंजी की इस पहलकदमीं का, श्रम के शोषण को और ज्यादा गहन और व्यापक बनाने के प्रयास का श्रम जवाब देता है। आगे भी यही होगा। लेकिन यह नयी जमीन पर ही होगा। और यह जवाब केवल श्रम शक्ति की बिक्री की अति बदहाल स्थिति को बेहतर बनाने का ही नहीं होगा, यह समूची धरती से इस रिश्ते को, पूंजी व श्रम शक्ति के रिश्ते को समाप्त करने का भी होगा। समाजवादी क्रांतियों की नयी श्रृंखला उसे अंजाम देगी।

समाजवादी क्रांतियों की पुरानी श्रृंखला की शुरूआत रूस में अक्टूबर क्रांति से हुई थी। इस क्रांति ने मानवता के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया था। बाद में चीन में क्रांति होने तथा पूर्वी यूरोप व कुछ अन्य देशों में समाजवाद कायम होने से एक पूरा समाजवादी खेमा ही अस्तित्व में आ गया। समाजवादी खेमे, कुछ विकसित पूंजीवादी देशों में मजबूत कम्युनिस्ट पार्टियों के होने तथा उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ज्वार से एक समय तो लगने लगा था कि साम्राज्यवाद के दिन गिने-चुने रह गये हैं, कि जल्दी ही धरती से पूंजीवाद का नामो-निशान मिट जायेगा।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। बल्कि सोवियत संघ में ख्रुश्चोव एण्ड कम्पनी के सत्तारूढ़ होने से समूची फिजा ही बदल गयी। स्वयं सोवियत संघ में तथा पूर्वी यूरोप के देशों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गई। इसके दो दशक बाद माओ के मरते ही चीन में भी पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गई। समाजवादी क्रांतियों की जिस श्रृंखला की शुरूआत रूस की अक्टूबर क्रांति ने की थी और जिससे कालांतर में एक पूरा समाजवादी खेमा ही अस्तित्व में आ गया था, वह 1976 में खत्म हो गई। अब इक्कीसवीं सदी में समाजवादी क्रांतियों की नयी श्रृंखला की ही शुरूआत हो सकती है।

समाजवादी क्रांतियों की इस श्रृंखला को देखने से आज एक चीज सहज ही गौर तलब है। इन सारी ही क्रांतियों की शुरूआत समाजवादी क्रांति से नहीं जनवादी क्रांति से हुयी थी, इनकी शुरूआत निजी सम्पत्ति के पूंजीवादी रूप पर हमले से न होकर निजी सम्पत्ति के सामंती रूप पर हमले से हुयी थी। यह इन सभी क्रांतियों की चारित्रिक विशेषता थी। इसने इन सभी क्रांतियों को शुरू करने में आबादी के लिहाज से ज्यादा व्यापकता प्रदान की लेकिन बाद में इसी ने बहुत सारी बाधाएं भी पैदा कीं।

रूस में क्रांति की शुरूआत फरवरी 1917 की जनवादी क्रांति से हुयी। क्रांति जारी रही और यह अक्टूबर 1917 में समाजवादी क्रांति में रूपान्तरित हो गई। रूसी क्रांति के इस विकास को, उसके विकास की इस गति को लेनिन ने बहुत पहले ही, 1905 में ही, देखा था और सूत्रित किया था। इस तरह रूस की अक्टूबर समाजवादी क्रांति भी जनवादी क्रांति से शुरू हुयी थी। स्वयं अक्टूबर सर्वहारा क्रांति ने भी जनवाद के कई बचे-खुचे सवाल हल किये मसलन किसानों को जमीन देने का तथा उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं को मुक्त करने का। इसने जहां सर्वहारा क्रांति को ज्यादा व्यापक आधार प्रदान किया वहीं बाद में समस्याएं खड़ी कीं।

बीसवीं सदी की शुरूआत में साम्राज्यवाद के अभ्युदय, प्रथम विश्व युद्ध और रूस की अक्टूबर सर्वहारा क्रांति के बाद वैश्विक स्थितियों में वह परिवर्तन आया जिसके कारण अब जनवादी क्रांतियां पुरानी विश्व पूंजीवादी क्रांति का हिस्सा न रह कर अब विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न हिस्सा बन गई । अब इन्होंने वह रूप ग्रहण कर लिया जब इन जनवादी क्रांतियों का नेतृत्व सर्वहारा को करना था और उनका उद्देश्य पूंजीवाद की स्थापना करना नहीं बल्कि समाजवाद कायम करना होना था। वस्तुतः, हुआ भी यही।

चीन, वियतनाम, कोरिया ही नहीं पूर्वी यूरोप के देशों में भी जनवादी क्रांति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग ने किया और उनमें पहले जनता के जनवाद कायम हुए, फिर समाजवाद की ओर बढ़ा गया। इन सबमें समाजवाद की स्थापना जनवादी क्रांति के समाजवादी क्रांति में रूपान्तरण के जरिये हुयी।

इस तरह देखा जाय तो इन देशों में समाजवादी क्रांतियां अपनी जमीन से नहीं हुयीं। वे निजी सम्पत्ति के पूंजीवादी रूप पर हमले और उसके बाद सामूहिक सम्पत्ति की स्थापना से, निजी सम्पत्ति के खात्मे और सामूहिक सम्पत्ति की स्थापना से शुरू नहीं हुई। इसके बदले इन्होंने निजी सम्पत्ति के एक पुराने रूप-सामंती रूप पर हमले से शुरूआत की। शुरू में उन्होंने एक निजी सम्पत्ति (सामंती) समाप्त कर दूसरी निजी सम्पत्ति (पूंजीवादी) की स्थापना की। इसके बाद ही वे निजी सम्पत्ति के खात्मे की ओर बढ़ीं। निश्चय ही इन दोनों के बीच चीन की दीवार नहीं थी। लेकिन तब भी ये दोनों दो भिन्न प्रक्रियाएं थीं और इनके होने में समय लगना ही था। रूस में खेती का सामूहिकीकरण क्रांति के 12 साल बाद ही जाकर हो पाया।

समाजवादी क्रांति की शुरूआत अपनी जमीन से न होकर, यानी निजी सम्पत्ति पर हमले से न होकर जनवादी क्रांति की निरंतरता में होने से इन समाजवादी क्रांतियों की ऐसी सीमाएं बनीं जिन्होंने बाद में समाजवादी समाजों में भी ढेरों विकृतियों को जन्म दिया। यहां केवल इतना ही इंगित करना पर्याप्त होगा कि जनवादी क्रांति से शुरू करने के कारण ढेरों ऐसे लोग कम्युनिस्ट पार्टी और क्रांति में शामिल हो गये जो मूलतः जनवादी थे, जो कम्युनिज्म की ओर नहीं जाना चाहते थे और जिन्होंने समाजवाद के निर्माण और संचालन में भारी बाधाएं पैदा कीं। ये समस्याएं महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति द्वारा चिह्नित समाजवाद की समस्याओं से अतिरिक्त थीं और उन्हें ज्यादा गहन व जटिल बनाती थीं।

वस्तुतः, इतिहास की वस्तुगत गति ही इस दिशा की ओर ले गई। पिछले पांच सौ सालों में क्रांतियों का गुरुत्व केन्द्र लगातार पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकता गया। हालैण्ड-इंग्लैण्ड में शुरू होकर यह एक लम्बे समय तक फ्रांस में रहा और फिर वहां से पूरब की ओर खिसकते हुए रूस जा पहुंचा। वहां से वह उपनिवेशों-अर्ध उपनिवेशों की ओर खिसक गया। आज यह स्पष्ट है कि क्रांतियों का यह केन्द्र वहां अवस्थित होता था जहां जनवादी क्रांतियां (सामंतवाद विरोधी क्रांतियां और/या राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियां) एजेण्डे पर होती थीं। यह पूंजीवाद और गैर-पूंजीवाद की सीमारेखा पर अवस्थित होता था।

1848 की यूरोपीय क्रांतियों से पहले की क्रांतियों ने भी एक विशेषता प्रदर्शित की थी जो आम थी। इन क्रांतियों का नेतृत्व पूंजीपति वर्ग करता था लेकिन लड़ने वाले लोग गरीब होते थे– दस्तकार, किसान और मजदूर। और इन गरीब लोगों ने, खासकर मजदूर वर्ग ने हर बुर्जुआ जनवादी क्रांति में न केवल सबसे उग्र भूमिका निभाई बल्कि अक्सर ही वे निजी सम्पत्ति के उन्मूलन की ओर जाने का प्रयास करते थे। वे सामंती निजी सम्पत्ति पर हमले को आगे बढ़ाकर स्वयं सम्पत्ति को ही समाप्त करने का प्रयास करते थे। महान फ्रांसीसी क्रांति के जैकोबिन काल में यह चरम पर जा पहुंचा।

उन्नीसवीं सदी में जब मजदूर वर्ग का विकास हुआ तथा एक वर्ग के बतौर जब यह स्पष्ट होने लगा कि उसके हित पूंजीपति वर्ग के खिलाफ हैं तो यह प्रवृत्ति और गहरी हो गई। 1848-50 की यूरोपव्यापी क्रांति में मजदूर वर्ग ने ही प्रमुख भूमिका अदा की। पेरिस में तो फरवरी क्रांति के बाद जून विद्रोह में उसने खुले आम पूंजीपति वर्ग से मोर्चा लिया। हालांकि यह विद्रोह कुचल दिया गया था लेकिन पूंजीपति वर्ग के लिए मजदूर वर्ग द्वारा पेश खतरा अब स्पष्ट हो गया था। समूचे यूरोप के पूंजीपति वर्ग ने इन क्रांतियों से यह जान लिया कि अब मजदूर वर्ग हर जनवादी क्रांति में उनके ठीक पीछे खड़ा है जो क्रांति शुरू हुयी नहीं कि उसे धकियाकर सत्ता पर कब्जा कर लेगा। पूंजीपति वर्ग की निजी सम्पत्ति की घंटी बज जायेगी। इसी समय से पूंजीपति वर्ग ने क्रांतियों से तौबा कर ली। निजी सम्पत्ति से बंधे होने के कारण समझौता परस्त तो वे हमेशा से थे, वे अब क्रांतियों से भयभीत हो गये।

मजदूर वर्ग के एक स्वतंत्र वर्ग के रूप में अस्तित्व में आ जाने के बाद और उसके तथा पूंजीपति वर्ग के बीच संघर्ष स्पष्ट हो जाने के बाद मजदूर वर्ग की अपनी विचारधारा पैदा होनी लाजिमी थी। और वह हुयी। मार्क्स और एंगेल्स ने मार्क्सवाद के रूप में मजदूर वर्ग की वह विचारधारा प्रस्तुत की जिसमें मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन की प्राप्ति को वैज्ञानिक ढंग से पेश किया गया। यह आश्चर्य नहीं है कि 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में इन विचारों की प्रस्तुति तथा 1848 में यूरोप व्यापी क्रांतियों में मजदूर वर्ग की स्वतंत्र पहलकदमी और भूमिका एक साथ ही घटित हुए। वस्तुतः'घोषणापत्र' आसन्न क्रांति की उद्घोषणा भी था।

मजदूर वर्ग समय के साथ और मजबूत होता गया तथा अपनी विचारधारा से अधिकाधिक लैस होता गया। इस यात्रा में उसने पेरिस कम्यून से बहुमूल्य सबक भी ग्रहण किये। अंततः, बीसवीं सदी की शुरूआत होते-होते पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग में रिश्ता उलटा हो गया अब जनवादी क्रांति में पूंजीपति वर्ग का अनुगामी होने के बदले मजदूर वर्ग उसका नेता हो गया। क्रांतियों से भयभीत, समझौतापरस्त पूंजीपति वर्ग अब क्रांतियों का नेतृत्व नहीं कर सकता था। अब इस काम को सर्वहारा वर्ग को करना था। पूंजीपति वर्ग या तो सर्वहारा के पीछे आता या तटस्थ हो जाता। सर्वहारा के आगे बढ़ने पर उसके भाग कर शत्रु से भी मिल जाने की गुंजाइश थी।

इस बदली हुयी स्थिति को लेनिन ने सबसे पहले पहचाना और रूस की जनवादी क्रांति के लिए उसे सूत्रित किया। रूसी क्रांति इसी ढ़र्रे पर हुयी। उपनिवेशों या अर्ध-उपनिवेशों के और भी ज्यादा पिछड़े समाजों में तो यह और भी होना था।

इस तरह वस्तुगत गति के चलते जनवादी क्रांतियों का स्वरूप बदल गया। उन्नीसवीं सदी तक उन्होंने पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में यात्रा सम्पन्न की तथा पूंजीवादी समाज कायम किये लेकिन बीसवीं सदी से वे सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न हुयीं और समाजवादी क्रांति में संक्रमण कर गईं। बीसवीं सदी के सभी समाजवादी समाज इसी तरह कायम हुए।

आज इतिहास की इस लंबी और टेढ़ी-मेढ़ी यात्रा के बाद, जबकि पहले कायम समाजवादी व्यवस्थाएं समाप्त हो गईं हैं तथा पूंजीवाद, साम्राज्यवाद के तहत एक एकीकृत विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के तहत काम कर रहा है तब यह स्पष्ट है कि जनवादी क्रांतियों का जमाना अब बीत चुका है। नेपाल जैसी छूटी हुयी जनवादी क्रांतियां कुछ एक देशों में ही संभावित हैं।

अब इक्कीसवीं सदी में समाजवादी क्रांतियों की जो नई श्रृंखला शुरू होगी इसमें जो समाजवादी क्रांतियां होंगी वे अब अपनी जमीन से होंगी। वे शुरू ही होंगी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के खिलाफ और सामूहिक संपत्ति की व्यवस्था की स्थापना के लिए। वे सीधे पूंजीवाद के खिलाफ, पूंजी के खिलाफ शुरू होंगी। इक्कीसवीं सदी की ये समाजवादी क्रांतियां ज्यादा व्यापक, ज्यादा सघन तथा ज्यादा वैश्विक होंगी। इनके बाद बनने वाले समाजवादी समाज ज्यादा स्वस्थ और टिकाऊ होंगे। हालांकि पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का खतरा इनमें भी रहेगा तथा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांतियों की श्रृंखला के जरिये ही इन्हें कम्युनिज्म की ओर बढ़ाया जा सकेगा तब भी, बीसवीं सदी के समाजवादी समाजों के मुकाबले ये ज्यादा टिकाऊ होंगे। ये क्रांतियां और उनसे निर्मित समाज ही बीसवीं सदी में कायम हुए समाजवादी समाजों की कमियों को ज्यादा बेहतर और वस्तुगत ढंग से चिह्नित कर पायेंगे।

इक्कीसवीं सदी में सर्वहारा समाजवादी क्रांतियों की यह श्रृंखला वहां से शुरू होगी, क्रांति का केन्द्र वहां होगा जहां श्रम और पूंजी के सभी अंतर्विरोध सबसे घनीभूत रूप में केन्द्रित होंगे। आज पहले से कहीं ज्यादा साम्राज्यवाद एक जंजीर के रूप में काम कर रहा है। इसमें एक ओर तो विकसित पूंजीवादी, साम्राज्यवादी देश हैं, दूसरी ओर उनके अधिपत्य में, उन पर भांति-भांति से निर्भर देश हैं। ये पिछड़े पूंजीवादी देश साम्राज्यवादी देशों के इस या उस हद तक प्रभाव में हैं। दुनिया के स्तर पर काम करने वाले तीनों बुनियादी अंतर्विरोध इस जंजीर की जिस कड़ी पर केन्द्रित होंगे वह सबसे कमजोर साबित होगी और टूट जायेगी। तीसरी दुनिया के पिछड़े पूंजीवादी देशों के ही कमजोर कड़ियां साबित होने की ज्यादा संभावना होगी। इस तरह देखा जाय तो क्रांतियों का गुरुत्व अभी भी तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों में हैं।

तीसरी दुनिया के पिछड़े पूंजीवादी देशों में आज संकट बहुत घनीभूत है। ये पूंजीवादी विकास के होने और न होने दोनों से त्रस्त हैं। उन्नीसवीं सदी में औद्योगीकृत हो रहे पश्चिमी देशों की तरह इनके लिए कोई सेफ्टी वाल्व भी नहीं है। यानी उनके लिए ऐसी जगहें नहीं हैं जहां ये अपनी बेशी आबादी और माल भेज सकें। उलटे ये देश खुद साम्राज्यवादियों की उफनती पूंजी और तैयार माल का चारागाह बने हुए हैं। साम्राज्यवादी पूंजी की मातहती या उसके व्यापक प्रभाव में विकास करने के कारण इन देशों का पूंजीवादी विकास बेहद असंतुलित है। कई छोटे मुल्कों में तो यह साम्राज्यवादियों की जरूरतों के हिसाब से ढला हुआ है। इन सबके कारण यहां श्रम और पूंजी के अंतर्विरोध बहुत गहन हैं। मजदूर और मेहनतकश जनता को, जिसमें किसान जनता भी शामिल है, यहां देशी और साम्राज्यवादी पूंजी के दुहरे शोषण का शिकार होना पड़ रहा है। साम्राज्यवादी यहां से भारी मात्रा में अतिलाभ कमा रहे हैं। अक्सर साम्राज्यवादियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता का भी इन देशों को सामना करना पड़ता है। इन सब कारणों से इनमें क्रांति की संभावनाएं बेहद बढ़ जाती हैं।

वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकरण के चलते तथा साथ ही क्षेत्रीय स्तर पर देशों की अर्थव्यवस्थाओं के और ज्यादा सघन सम्बन्धों के चलते आज इस बात की संभावना पैदा हुयी है कि समाजवादी क्रांतियां क्षेत्रीय क्रांतियों का रूप ग्रहण करें। यानी किसी क्षेत्र विशेष के एक देश में क्रांति तुरंत ही उस समूचे क्षेत्र में फैल जाय।

आज पूंजीवाद वैश्विक पैमाने पर, सारी दुनिया में पूंजीवादी सम्बन्धों के तहत काम कर रहा है इसलिए इसके अंतर्विरोध भी वैश्विक पैमाने पर काम कर रहे हैं। जब पूंजीवाद केवल कुछ एक देशों में था तब इसके अंतर्विरोध मसलन प्रचुरता और भीषण गरीबी के अंतर्विरोध देश के भीतर ही दीखते थे। आज वे वैश्विक पैमाने पर दीखते हैं। साम्राज्यवादी देशों के पूंजीपति वर्ग की समृद्धि को तीसरी दुनिया के बदहाल लोगों की कंगाली से अलग करके नहीं देखा जा सकता। वे एक ही अंतर्विरोध के दो पहलू हैं। पूंजीवादी विकास की असमानता के रूप में ही नहीं, यह विकसित और पिछड़े देशों की बढ़ती असमानता के रूप में भी अभिव्यक्त हो रहा है। पूंजीवाद की तेजी मंदी या ठहराव के संकट अब वैश्विक पैमाने पर प्रकट हो रहे हैं। सट्टेबाजों की गतिविधियों से सारी दुनिया के वित्तीय बाजार डगमगाने लगते हैं। कुल मिलाकर

यह कि यदि पूंजीवाद ने वैश्विक व्यवस्था का रूप ग्रहण किया है तो इसके अंतर्विरोध भी वैश्विक पैमाने पर प्रकट हुए हैं।

आज पूंजीवाद वैश्विक पैमाने पर कार्य कर रहा है। न केवल सब जगह पूंजीवादी संबंध कायम हैं बल्कि उत्पादक शक्तियां वैश्विक पैमाने पर कार्यरत हैं। एक रूप में कहा जाय तो सारी धरती और सारे लोगों को मिलाकर ही आज उत्पादन हो रहा है। कहां का कच्चा माल कहां इस्तेमाल हो रहा है, कहां की मशीनें कहां जा रही हैं तथा कहां का माल कहां बिक रहा है, आज इसका कोई हिसाब नहीं है। यह सब वैश्विक पैमाने पर हो रहा है। लेकिन तब भी इसके समांतर दूसरी हकीकत विद्यमान है। समूचा विश्व अभी भी राष्ट्रों, देशों में विभाजित है, ऐसे देश जो राजनीतिक तौर पर एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। वैश्विक पैमाने पर कार्यरत उत्पादक शक्तियों और दुनिया का देशों में यह विभाजन ऐसे अंतर्विरोध को जन्म दे रहा है जो पूंजीवाद के संकट को तीव्र बना रहा है।

दुनिया के देशों में इस विभाजन से उत्पादन सम्बन्ध अपने सारतत्व में वैश्विक होते हुए भी देशों की सीमाओं में बंधने के लिए मजबूर होते हैं। उत्पादन सम्बंधों में सर्वप्रमुख उत्पादन के साधनों का मालिकाना आज भी प्रधानतः राष्ट्रीय है। इसके चलते किसी देश के पूंजीपति वर्ग और उसके राज्य के बीच मजबूत रिश्ता कायम होता है। इजारेदारी के इस युग में यह रिश्ता राज इजारेदार पूंजीवाद के रूप में मौजूद है। हालांकि आज पूंजी कहीं भी जाकर वहां श्रम शक्ति का शोषण करने के लिए स्वतंत्र है, तब भी स्वयं श्रमशक्ति राष्ट्र की सीमाओं में बंधी हुयी है। लगातार बढ़ते व्यापार और उत्पादन के विकेन्द्रीकरण ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम विभाजन को बहुत ज्यादा बढ़ाया है लेकिन तब भी आज भी यह राष्ट्र के भीतर ज्यादा हो रहा है। इस तरह उत्पादन सम्बन्ध अभी भी संकुचित दायरे में कैद हैं।

आधार के मुकाबले अधिरचना और भी ज्यादा उत्पादक शक्तियों के विरोध में खड़ी है। सारी दुनिया राजनीतिक तौर पर देशों, राष्ट्रों में विभाजित है। देशों का यह विभाजन पग-पग पर उत्पादक शक्तियों की राह में बाधा खड़ी करता है। साम्राज्यवादी पूंजी पूंजी निर्यात के जरिये इस बाधा से पार पाने की कोशिश करती है। तब भी बाधा बनी रहती है। साम्राज्यवादियों ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक का इस्तेमाल करके इन बाधाओं से तीसरी दुनिया में पार पाने की कोशिशें की हैं। विश्व व्यापार संगठन इस दिशा में सबसे बड़ा प्रयास है जिसने पूंजी की राह में देशों की सीमाओं की बाधा को कम से कम करने का प्रयास किया है। पूंजी ने क्षेत्रीय आर्थिक संगठन इसी उद्देश्य से खड़े किये हैं। यूरोपीय संघ इसमें सबसे आगे है। कहने की बात नहीं कि यह सारा कुछ इजारेदार पूंजी कर रही है और अपने बीच की भीषण प्रतिद्वन्द्विता के तहत। देशों की सीमाओं को लांघते हुए भी वह इन सीमाओं के तहत रह रही है और दूसरों से प्रतिद्वन्द्विता में इनका इस्तेमाल कर रही है। नहीं, यह सारी जंग लड़ी ही जा रही है राज्यों के बीच। देशों की सरकारें ही पूंजी की राह में बाधाएं खड़ी कर रही है या हटा रही हैं।

पूंजी की वैश्विक गति व वैश्विक पूंजी के राष्ट्रों में विभाजन का यह द्वन्द्व आगे आने वाले समय में बदस्तूर जारी रहेगा। यह साम्राज्यवादियों के बीच तीखी प्रतिद्वन्द्विता को जन्म देता रहेगा। चूंकि उपनिवेश बनाकर उन पर इजारा कायम करना अब संभव नहीं रह गया है इसलिए यह प्रतिद्वन्द्विता कूटनीतिक व वित्तीय तथा अन्य तरीकों से अब केवल प्रभाव क्षेत्र तक ही जा पायेगी। दुनिया के क्षेत्रों का बंटवारा प्रभाव क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ पायेगा। आज भी ये प्रभाव क्षेत्र कायम हैं। दक्षिण अमेरिका व खाड़ी देश अमेरिका के प्रभाव में, पश्चिमी-उत्तरी अफ्रीकी देश पश्चिमी यूरोप के प्रभाव में, भूतपूर्व सोवियत संघ के ज्यादातर देश रूस के प्रभाव क्षेत्र में हैं। पूर्वी यूरोप के लिए अमेरिका, पश्चिमी यूरोप व रूस में ठनी हुयी है। दक्षिण पूर्व एशिया में जापान का प्रभाव था जहां अब उभरता हुआ चीन अपने पांव पसार रहा है। भारत जैसी क्षेत्रीय ताकतें भी क्षेत्रीय पैमाने पर अपने प्रभाव क्षेत्र कायम करना चाहती हैं। क्षेत्रीय आर्थिक ब्लाक बनाकर अपने लिए निवेश और बाजार का बड़ा क्षेत्र सुरक्षित कर लेना भी इस प्रतिद्वन्द्विता में बहुत फायदेमंद है।

साम्राज्यवादियों के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्विता उन्हें अन्य देशों पर कब्जे तक ले जा रही है। कोसोवो, अफगानिस्तान और इराक ऐसे ही कब्जे हैं। इस तरह साम्राज्यवादियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता युद्धों को जन्म दे रही है, हालांकि ये युद्ध उनके आपस में नहीं हैं। वैसे इस तरह के कब्जे एक प्रवृत्ति का रूप धारण कर अनेक देशों तक विस्तारित नहीं होगे। वे तो बस इजारेदार पूंजी के, वित्त पूंजी के सर्वग्रासी चरित्र को दिखाते हैं जो भीषण तबाही की कीमत पर भी इस हद तक जाने को तैयार रहती है।

वैश्विक पैमाने पर कार्यरत यह इजारेदार पूंजीवाद अति उत्पादन के भीषण संकट से ग्रस्त है। इसमें पूंजी का अति विशाल पैमाने पर जो संचय हुआ है उसके लाभदायक निवेश की गुंजाइश बहुत कम है। दुनिया के सारे बाजार मालों से पटे हुए हैं इसलिए उत्पादित बेशी मूल्य को हासिल करना कठिन साबित हो रहा है। ऐसी नयी जगहें नहीं हैं जहां निवेश किया जा सके या माल बेचा जा सके। यह इसलिए भी कि इजारेदार पूंजी द्वारा उत्पादन और वितरण के पुनर्गठन ने दुनिया के पैमाने पर श्रम शक्ति की कीमत को गिराया है, मजदूर-मेहनतकश जनता की क्रय शक्ति को कम किया है।

इस तरह अतिउत्पादन के संकट को कहीं और स्थानांतरित करने के लिए इजारेदार पूंजी के पास जगहें नहीं हैं। वह ज्यादा से ज्यादा भीषण प्रतियोगिता के द्वारा एक दूसरे के बाजार और निवेश के क्षेत्रों पर कब्जा ही जमा सकती है। दुनिया के पैमाने पर आर्थिक ठहराव, बेरोजगारी, दरिद्रता, ऋणग्रस्तता तथा आसमान छूती सट्टेबाजी इसके स्वाभाविक परिणाम हैं। मरणासन्न, ह्रासमान पूंजीवाद अपनी मरणासन्नता को तीखे ढंग से प्रदर्शित कर रहा है।

साम्राज्यवादियों (और तीसरी दुनिया के देशों के पूंजीपति वर्ग) की मुनाफे की हवस ने समूची धरती के पर्यावरण के विनाश का खतरा पैदा कर दिया है। साम्राज्यवादी-पूंजीवादी व्यवस्था के रहते यह खतरा बढ़ता ही जायेगा। सुधारवादियों या पर्यावरणवादियों के कोई भी नुस्खे इस समस्या को हल नहीं कर सकते।

बीसवीं सदी की शुरूआत में जब पूंजीवाद ने इजारेदारी की अवस्था में प्रवेश किया, साम्राज्यवाद का जब जन्म हुआ तभी से पूंजीवाद पूर्णतः प्रतिक्रियावादी हो गया। यदि उदारवाद मुक्त होड़ के जमाने की विशेषता था तो चौतरफा प्रतिक्रियावाद, निरंकुशता और तानाशाही इजारेदार पूंजीवाद के जमाने की विशेषता है। और इक्कीसवीं सदी की शुरूआत में तो यह पूंजीवाद के और ज्यादा विकास के अनुरूप और ज्यादा बढ़ गया है। अमेरिकी साम्राज्यवादियों की करतूतें, चाहे वे अपने देश के भीतर हों या बाहर, उन्नीसवीं सदी के उदार बुर्जुआ को आश्चर्य चकित कर देतीं। जनवादी अधिकारों का हनन, क्रूरता तथा मासूम नागरिकों की भारी पैमाने पर हत्या जिसे अमेरिकियों ने 'सहवर्ती नुकसान' ('कोलैटरल डैमेज') का नाम दिया है, यह साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावादी चरित्र की केवल कुछ बानगियां हैं। वक्त के साथ यह और ज्यादा बढ़ता जायेगा। यह समझ में आने वाली बात है कि अपने द्वारा पाले-पोसे धार्मिक कट्टरपंथियों के प्रति साम्राज्यवादियों का यदि यह रुख है तो मजदूर वर्ग की ओर से पूंजी को मिलने वाली चुनौती के प्रति उनका क्या रुख होगा। तब वे क्रूरता और हिंसा की सभी सीमायें पार कर जायेंगे। तीसरी दुनिया के शासक पूंजीपति वर्ग इसमें उसी तरह उनके साथ होंगे जैसे वे वैश्विक मूल्य विनियोग में उनके साथ हैं। अब वे भी प्रगतिशील होने के बदले पूर्णतया प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं। उनकी भी ऐतिहासिक भूमिका समाप्त हो गई है।

आज नये सिरे से पुनर्गठित वैश्विक पूंजीवाद को नये तरीके से ही चुनौती मिल सकती है। यह चुनौती प्रथमतः वैश्विक ही होगी। यह चुनौती नयी जमीन से होगी, पुरानी जमीन से नहीं।

1850 से लेकर 1990 तक के दौर ने पूंजीवाद को एक खास तरह से विकसित किया और फिर पूंजी के खिलाफ श्रम की चुनौती पैदा की। 1848-50 की असफल यूरोपीय क्रांतियों के बाद यूरोप में बड़े पैमाने पर पूंजीवाद का तेज विकास शुरू हुआ। वस्तुतः ये असफल हो जाने के बावजूद वे आवेग साबित हुयीं जिन्होंने पूंजीवाद के रास्ते में बाधक सामंती अवरोधों को तेजी से हटाना शुरू किया। इन क्रांतियों का गला घोंटने वाले ही इनके निष्पादक बन गये। पूंजीवाद के इस तेज विकास के कारण मजदूर आंदोलन को धक्का लगा। लेकिन जब यह विकास परिपक्वता की ओर बढ़ने लगा तब इसने मजदूर आंदोलन को दुबारा जन्म दिया। प्रथम इंटरनेशनल की हिचकिचाहट भरी शुरूआत के बाद 1870 के दशक से इसमें तेज गति आई। 1870 के दशक से आये दीर्घकालीन ठहराव के संकट ने मजदूर वर्ग को संगठनबद्ध होने की ओर बढ़ाया। मजदूर वर्ग की पार्टियों, उनकी ट्रेड यूनियनों का गठन हुआ और वे बीसवीं सदी की शुरूआत होते-होते बड़ी ताकत बन गईं। लेकिन जैसा कि बाद के इतिहास ने साबित किया, उनके विकास में ही उनके पतन के बीज निहित थे। वे अपनी शक्ति बढ़ने के साथ-साथ क्रमशः व्यवस्था परस्त और सुधारवादी होती गई थीं। और जब बीसवीं सदी की शुरूआत में पूंजीवाद का भीषण संकट शुरू हुआ (1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने के साथ) तो वे एकदम गद्दार साबित हुईं। लेनिन और बोल्शेविक पार्टी इनके खिलाफ लड़कर ही, इन्हें एक ओर ढकेल कर ही क्रांति की ओर बढ़ पाये।

1945 के बाद का इतिहास एक भिन्न रूप में इन सबको दुहरा रहा है। 1945 के बाद दुनिया के पैमाने पर पूंजीवाद का तेज विकास शुरू हुआ। वस्तुतः 1945 से 1970 के दशक के शुरू तक का काल पश्चिमी पूंजीवादी विश्व के लिए स्वर्ण युग था। दुनिया के पैमाने पर भी पूंजीवादी सम्बन्धों का विकास हो रहा था। इन स्थितियों ने वह वस्तुगत आधार प्रदान किया जिसके कारण विकसित पूंजीवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां सुधारवादी हो गईं। उन्होंने अपने पूंजीपति वर्ग के सामने घुटने टेक दिये। ख्रुश्चेव इनका नेता बन कर अवतरित हुआ। बाद में जब 1970 के दशक से पूंजीवादी ठहराव का संकट शुरू हुआ तो यहां उन्नीसवीं सदी की उलटी प्रक्रिया शुरू हुयी। तब मजदूरों ने अपनी पार्टियां गठित की थीं, अपने ट्रेड यूनियन व सहकारिताएं खड़ी की थीं। कुछ न खोने की स्थिति से वे कुछ पाने की ओर बढ़े थे। अब मजदूर वर्ग के स्थापित संगठन और पार्टियां निष्प्रभावी होनी शुरू हुयीं। मजदूर कुछ पाये हुए को खोने की ओर बढ़ने लगे।

पूंजी के विश्व व्यापी संकट और इजारेदार पूंजी के हमले के सामने और ज्यादा मजबूत होकर खड़े होने के बदले मजदूर वर्ग लगातार पीछे हटता गया। अभिजात मजदूर वर्ग के पाप का, उनकी पार्टियों के अवसरवाद का नतीजा

समूचे मजदूर वर्ग को झेलना पड़ा। लेकिन इस पीड़ा का सकारात्मक पहलू यह है कि इसने मजदूर वर्ग के भीतर से अवसरवाद के आधार को खिसकाने में बड़ी भूमिका अदा की है। समूचे मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी एकता का, वैश्विक पैमाने पर एकता का पुख्ता आधार तैयार हुआ है। लेकिन कहने की बात नहीं कि यह अभी भी मजदूर आंदोलन में हावी अवसरवाद, सुधारवाद को पराजित किये बिना नहीं हो सकता।

बीसवीं सदी की शुरूआत की तरह आज भी समूचा विश्व लगातार गंभीर संकट की ओर बढ़ रहा है। स्वयं बुर्जुआ वर्ग के विचारक चीख-चीख कर इसकी घोषणा कर रहे हैं। साम्राज्यवादियों से लेकर पिछड़े देशों के सारे शासक अपनी व्यवस्था को लेकर बेहद चिंतित हैं। सोचने की बात है कि मजदूर वर्ग की ओर से बिना किसी चुनौती के वे यदि इतना चिंतित है तो मजदूर वर्ग के आगे बढ़ने पर क्या होगा!

आज उत्पादन का समाजीकरण बेहद ऊंचे स्तर पर जा पहुंचा है– वैश्विक स्तर पर। लेकिन हस्तगतकरण आज भी निजी है, उत्पादन का अधिकांश हिस्सा मुट्ठीभर लोग अपनी मुट्ठी में कर ले रहे हैं। उत्पादन के इस समाजीकरण के साथ पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता भी वैश्विक पैमाने पर जा पहुंची है। एक ओर बहुराष्ट्रीय निगम दुनिया के पैमाने पर उत्पादन को संगठित कर रहे हैं तो दूसरी ओर वे दुनिया के पैमाने पर प्रतियोगिता भी कर रहे हैं। वे अभी भी बाजार के लिए ही उत्पादन कर रहे हैं। होड़ की अराजकता आज अति ऊंचे स्तर पर, वैश्विक स्तर पर विद्यमान है। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व व्यापार संगठन इसे खत्म नहीं कर सकते। वे इसे नियमित करने के प्रयास में इसे बढ़ायेंगे ही। पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता जितनी देर से अपना कार्य करती है, यानी संकट जितना ज्यादा टाला जाता है, वह उतना ही ज्यादा विस्फोटक होता है।

उत्पादन का वैश्विक पैमाने पर यह समाजीकरण हस्तगतकरण के भी समाजीकरण की मांग कर रहा है। इसे जितना ही टाला जायेगा, समाज में उतना ही ध्वंस होगा, तबाही-बर्बादी बढ़ेगी। यह कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का काम है कि वे आगे बढ़ें और नये जमाने की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए इस ऐतिहासिक कार्यभार को अंजाम दें। इतिहास की हमसे यह मांग है और हमें यह पूरा करना ही होगा।

राष्ट्रीय परिस्थिति

भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछले चार साल भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिए खुशगवार हैं। 2000-02 की मंदी के बाद लगातार चार साल तक भारत की समग्र विकास दर 8 प्रतिशत के आस-पास रही है। इसे देखते हुए भारत का पूंजीपति वर्ग अब 9-10 प्रतिशत की विकास दर के सपने देखने लगा है तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के 'उच्च विकास रफ्तार' में दाखिल हो जाने की बातें होने लगी हैं।

लेकिन भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिए यह खुशगवार स्थिति केवल समग्र विकास दर तथा पूंजीपतियों द्वारा कमाये जा रहे बेशुमार मुनाफे तक सीमित है। ज्यादा ब्यौरे में जाते ही स्थिति उतनी खुशगवार नहीं रह जाती।

भारत की बहुलांश आबादी अभी भी जिस क्षेत्र पर निर्भर है यानी कृषि, उसमें वृद्धि दर बहुत कम है। यह 8-10 प्रतिशत तो क्या 5 प्रतिशत भी नहीं है। लगातार तीखे ऊपर-नीचे होते हुये यह औसतन दो-ढाई प्रतिशत के आस-पास है। जनसंख्या वृद्धि की रफ्तार को देखते हुए खेती में यह विकास दर बहुत कम है। उस हिसाब से स्थिति खुशनुमा होने के बदले चिंताजनक है।

उद्योगों की विकास दर भी बहुत अच्छी नहीं है। सच तो यह है कि औद्योगिक क्षेत्र में विकास दर औसतन एक ही स्तर पर बनी हुयी है- 5-6 प्रतिशत के आस-पास। इसे न तो 1980 के दशक का उदारीकरण बढ़ा पाया है और न ही 1990 के दशक का। बीच-बीच में इसमें गिरावट के संकेत मिले हैं।

1980 व 90 के दशक के ही अनुरूप पिछले चार सालों में विकास दर में जो तेजी आई है वह अर्थव्यवस्था के तृतीय क्षेत्र यानी सेवा क्षेत्र में तेजी की वजह से है। आज सेवा क्षेत्र का अर्थव्यवस्था में हिस्सा 55 प्रतिशत के आस-पास है। इस हिस्से में तेज बढ़ोत्तरी स्वतः ही समूची अर्थव्यवस्था की तेज बढ़ोत्तरी के रूप में प्रकट होने लगती है।

सेवा क्षेत्र में तेज वृद्धि संचार, यातायात, वित्त तथा सरकारी खर्च में वृद्धि होने की वजह से है। यह ध्यान रखने की बात है कि सरकारी खर्च में बढ़ोत्तरी सबसे ज्यादा पुलिस और सेना पर होती रही है।

कृषि और उद्योग के धीमे विकास के मुकाबले सेवा क्षेत्र के तेज विकास से न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था के खराब स्वास्थ्य का पता चलता है बल्कि यह इसकी बढ़ती परोपजीविता का लक्षण भी है। पूंजीपति वर्ग भौतिक वस्तुओं के उत्पादन से नहीं, अन्य गतिविधियों से मुनाफा कमाने का प्रयास कर रहा है। लेकिन चूंकि बेशी मूल्य केवल भौतिक

वस्तुओं के उत्पादन में ही पैदा हो सकता है इसलिए इसके बंटवारे का संघर्ष और छोटी सम्पत्ति वाले लोगों की सम्पत्ति के अपहरण की प्रक्रिया अत्यधिक तेज हो जाती है। यह समाज में अनेकानेक संकटों के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है। कृषि और उद्योग में धीमे विकास तथा शेयर बाजार में सट्टेबाज पूंजी के उछाल में सीधा सम्बन्ध है।

पिछले सालों में भारत की विदेशी ऋणग्रस्तता में कमी आयी है लेकिन अभी भी भारत सरकार तथा प्रदेश सरकारें भारी मात्रा में ऋणग्रस्त (देशी-विदेशी दोनों ऋण) हैं। वस्तुतः, केन्द्र सरकार के बजट का सबसे बड़ा मद कर्जों पर ब्याज व मूलधन की अदायगी ही है।

सरकारों की ऋणग्रस्तता में कमी आने के बावजूद समाज के पैमाने पर ऋणग्रस्तता तेजी से बढ़ी है। केवल छोटे-मझोले किसान ही सूदखोरों के चंगुल में फंसकर तबाह नहीं हो रहे हैं बल्कि समाज के अन्य हिस्से भी बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के तेजी से कर्जदार बन रहे हैं। बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के पास ऋण पूंजी का अफारा है और हर किसी को, जिसकी थोड़ी साख हो, उसे ऋण दे रहे हैं। हां वे गरीब-मजलूम लोगों से वैसे ही दूरी बनाए हुए हैं जैसे प्लेग के मरीज से। स्वयं माल उत्पादक कम्पनियां भी किश्तों पर माल बेचने का जी-तोड़ प्रयास कर रही हैं। यहां बाजार का संकट मुंह बाये खड़ा है– माल के बाजार की भी और पूंजी के बाजार का भी। समूचे समाज को कर्जखोर बनाकर ही पूंजी अपने संचय को जारी रख पा रही है।

भारत सरकार और प्रदेश सरकारों के सारे प्रयासों के बावजूद उनके बजट घाटे कम नहीं हो रहे हैं। उनके द्वारा तय लक्ष्य लगातार छूट रहे हैं। इसकी मुख्य वजह विभिन्न पूंजीपतियों को विभिन्न रियायतों के कारण सरकार की आय में कमी तथा रक्षा इत्यादि पर सरकार के बढ़ते खर्चे हैं। जहां तक सरकार के उत्पादक गतिविधियों में खर्चों का तथा जनता को सब्सिडी की बात है तो उसमें लगातार कटौती होती गई है। आम आदमी की बेल्ट दुगुनी-तिगुनी टाइट करके भी सरकारों का बजट घाटा कम नहीं हो रहा है क्योंकि पूंजीपतियों की तोंद उसी अनुपात में फूलती जा रही है। नयी आर्थिक नीतियों के सोलह साल बाद भी सरकार अपने एक मुख्य घोषित लक्ष्य के आस-पास भी नहीं है। इस सम्बन्ध में एक विधेयक पास करना भी उसके काम रहीं आया।

आयात-निर्यात की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। यह सच है कि पिछले सालों में निर्यात बढ़े हैं। लेकिन आयात तो उससे भी ज्यादा बढ़ा है। इसके चलते व्यापार घाटा लगातार बढ़ता गया है। यदि इस बढ़ते व्यापार घाटे ने सरकार के लिए संकट नहीं पैदा किया तो केवल इस कारण कि अप्रवासी भारतीयों ने भारत में पूंजी निवेश किया तथा विदेशों में काम करने वाले मजदूरों ने भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा भारत भेजी। इसके बिना भारत निश्चित तौर पर भुगतान संतुलन के संकट में फंस जाता और तब सरकार 200 अरब डालर के विदेशी मुद्रा भंडार की डींग नहीं हांक पाती।

पिछले तीन-चार सालों में भारत के शेयर बाजार ने अभूतपूर्व छलांग लगाई है और भारत सरकार इसके लिए अपनी पीठ थपथपा रही है। इसके होश बीच में खोने से लगे थे जब मई 2006 में शेयर बाजार लुढ़क गये। भारत के शेयर बाजारों में यह तेजी देशी-विदेशी परोपजीवी पूंजी की सट्टेबाजी का नतीजा है। शेयर बाजार अब उत्पादक कम्पनियों के लिए अपने लिए पूंजी इकट्ठी करने की जगह नहीं है। ये केवल जुआघर हैं। यहां शेयरों पर ही नहीं, भांति-भांति की चीजों पर सैकड़ों तरीकों से जुआ खेला जाता है और परिणाम होता है शेयर बाजार का उछाल या लुढ़कना। उत्पादक संभावनाओं से वंचित इजारेदार पूंजी इस जुएखाने में अपने जौहर दिखाती है और छोटे निवेशकों की जेबों पर हाथ साफ करती है।

भारत के शेयर बाजार में यह उछाल 2003 से यहां बड़ी मात्रा में आ रही सट्टेबाज पूंजी की बदौलत है। इसमें देशी सट्टेबाज भी अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। पिछले 3-4 सालों में विदेशी पोर्टफोलियो निवेश तेजी से बढ़ा है। इसका शेयर बाजार के उछाल से सीधा सम्बन्ध है। शेयर बाजार से भारत के पूंजीपति और सरकार चाहे जितना खुश हों, यह उछाल इस बात का द्योतक है कि भारत का वित्तीय बाजार दुनिया के वित्तीय बाजार से जुड़ गया है और इसलिए बाहरी उथल-पुथल का यह शिकार होगा, जैसा कि मई 2006 में हुआ जब लंदन के मैटल मार्केट के लुढ़कने से भारत के शेयर बाजार लुढ़क गये। इस उथल-पुथल से विदेशी सट्टेबाज निवेशकों का या देश के बड़े सट्टेबाजों का कुछ नहीं बिगड़ेगा क्योंकि वे तो समय रहते मलाई निगलकर चम्पत हो जायेंगे लेकिन शेयर बाजार के जरिये वित्तीय बाजार ध्वस्त होने से और फिर वास्तविक अर्थव्यवस्था के गंभीर रूप में प्रभावित होने से इसका सारा खामियाजा मजदूर-मेहनतकश जनता को भुगतना पड़ेगा। दक्षिण-पूर्व एशिया का 1997-98 का संकट इसका स्पष्ट गवाह है। पिछले सालों में भारत सरकार ने रुपये की पूर्ण परिवर्तनीयता की ओर समय के साथ बढ़ने का जो निर्णय लिया है वह भी इस दलदल की ओर ही एक कदम और है।

अपेक्षाकृत ठहराव के बाद पिछले सालों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भी बढ़ा है। भारत सरकार के इस संबंध में बहुत ऊंचे ख्वाब हैं लेकिन वे पूरे नहीं हो रहे हैं। साम्राज्यवादी इजारेदार पूंजी अन्य ज्यादा फायदेमंद जगहों की ओर

मुखातिब है। सरकार का इसे भारत की ओर आकर्षित करने का जी-तोड़ प्रयास जारी है। इसके कामयाब होने पर भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व अर्थव्यवस्था में अंतर्गुम्फन तेजी से बढ़ेगा। वैश्विक पूंजी के अंतर्विरोध यहां और ज्यादा व्यापक और गहन रूप में अपने को प्रदर्शित करेंगे। मसलन, वैश्विक तेजी-मंदी यहां तुरंत परिलक्षित होगी।

वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ अंतर्गुफन की प्रक्रिया विपरीत गति से भी हो रही है। भारत का पूंजीपति वर्ग लगातार अधिकाधिक मात्रा में विदेशों में भी पूंजी लगा रहा है। यह पूंजी ज्यादातर अफ्रीका और दक्षिण पूर्व एशिया में लग रही है लेकिन भारत के पूंजीपति यूरोप व अमेरिका में भी, अत्यन्त निम्न स्तर पर, पैठ करने की कोशिश कर रहे हैं। वर्ष 2005 में तो भारत के पूंजीपति वर्ग ने विदेशों में उतनी ही पूंजी लगायी जितनी विदेशों से देश के भीतर आई थी। और यह इसके साथ कि भारत की कम्पनियां यूरोपीय बाजारों में बाण्ड जारी करके पूंजी इकट्ठी कर रही हैं। भारत का पूंजीपति वर्ग वैश्विक पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा होने के अपने चरित्र को बखूबी प्रकट कर रहा है। वह वैश्विक बेशी मूल्य में बाहर-भीतर हर जगह अपना हिस्सा बंटा रहा है, अपनी औकात के हिसाब से। इसके हिसाब से राष्ट्रवाद का झंडा सुदर्शन का लंगोट भर बन कर रह गया है जिससे संघ परिवार अपनी इज्जत ढ़कने का प्रयास कर रहा है।

पिछले सालों में क्या तो राजग सरकार और क्या तो संप्रग सरकार, दोनों ही उदारीकरण की नीतियों पर आगे बढ़ती रही हैं। यह इसके बावजूद कि अवसरवादी वामपंथी संप्रग सरकार को बाहर से समर्थन देकर चला रहे हैं। पूंजीपति वर्ग की ओर से निजीकरण-उदारीकरण की ओर आगे बढ़ने का दबाव लगातार जारी है और सुधारवादी ट्रेड यूनियनों के बावजूद सरकार क्रमशः इस ओर बढ़ रही है। पूंजी की गतिशीलता बाहर-भीतर दोनों तरफ लगातार बढ़ रही है। इसको एक कदम और आगे बढ़ाते हुए सरकार ने खुदरा व्यापार को देशी इजारेदार घरानों के लिए खोल दिया है और विदेशी इजारेदार पूंजी, साम्राज्यवादी पूंजी के लिए इसे खोलने का संकेत दे रही है। इसके साथ ही देश में लाखों-लाख खुदरा दुकानदारों के ध्वंस की प्रक्रिया शुरू हो गई है। एक और छोटी सम्पत्ति इजारेदार पूंजी की सीधी मार के दायरे में आ गई है।

लेकिन पूंजीपति वर्ग को इतने सब से संतोष नहीं है। वह और भी ज्यादा छूट चाहता है जिससे और ज्यादा बेशी मूल्य हथिया सके। इसके लिए सरकार ने 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' बनाने को मंजूरी दे दी है। इससे संबंधित विधेयक 2005 में संसद में पास हुआ। भाकपा-माकपा जैसे सुधारवादियों ने इस मामले में कृषि योग्य जमीन के नष्ट होने तथा किसानों की बेदखली को मुद्दा बनाया। यह जिस उदारीकृत, मजदूर विरोधी नीति को प्रतिबिंबित करती है, उसे उन्होंने मुद्दा नहीं बनाया। उनकी स्थिति तब अत्यन्त हास्यास्पद हो गई जब पश्चिम बंगाल में ठीक इन्हीं मुद्दों पर विपक्षी पार्टियों ने उन्हें घेर लिया। किसानों के इन शुभचिंतकों ने पश्चिम बंगाल में दसियों किसानों की हत्या कर दी। अब तक विभिन्न प्रदेश सरकारों ने सैकड़ों विशेष आर्थिक क्षेत्रों को मान्यता दे दी है। इन क्षेत्रों की हकीकत यह है कि कुछ कम्पनियां दूसरी जगहों से पलायन कर इन विशेष क्षेत्रों में आ जा रही हैं तथा कुछ बड़ी कम्पनियां तो अपनी कम्पनी के क्षेत्र को ही विशेष आर्थिक क्षेत्र घोषित करा ले रही हैं।

भारतीय पूंजीवाद के विकास की इसी स्थिति में पूंजीपति वर्ग की सरकार यह दावा कर रही है कि देश में पिछले सालों में भुखमरी घटी है। यह एक अजीबो गरीब खेल है, लेकिन पूंजीपति वर्ग और उसकी सरकार इसमें माहिर है। 1991 से ही जिस निजीकरण-उदारीकरण की नीति पर चला जा रहा है उसकी सारी गतियां तार्किक तौर पर इसी निष्कर्ष पर पहुंचाती हैं कि देश में गरीबी बढ़ेगी, भुखमरी बढ़ेगी। दुनिया के बाकी देशों का अनुभव भी यही दिखा रहा है लेकिन भारत सरकार दावा करती है कि भुखमरी कम हो रही है।

सच यह है कि देश में अमीरी और गरीबी के बीच खाई तेजी से बढ़ी है। बेरोजगारी बढ़ी है। देश में आम तौर पर असमानता में वृद्धि हुयी है। शहर और देहात के बीच, उद्योग और कृषि के बीच खाई तेजी से चौड़ी हुयी है। कृषि पर निर्भर आबादी का कंगालीकरण हुआ है। लाजिमी है कि सबके बाद कोई भुखमरी कम होने की बात नहीं कर सकता।

भारत में बेरोजगारी की भयंकर समस्या पहले से विद्यमान रही है खुली और छिपी बेरोजगारी की स्थिति को 10 प्रतिशत से 30-40 प्रतिशत तक आंका जाता रहा है। इसमें स्थिति पिछले सालों में और गंभीर ही हुयी है। नये रोजगारों की सृजन की दर बढ़ती आबादी के साथ भी कदम नहीं मिलाकर चल रही है। खेती में तो यह शून्य हो गयी है।

भारतीय पूंजीवाद के संकट को सबसे तीखे ढंग से खेती ही अभिव्यक्त कर रही है। खेती में पूंजीवादी संबंधों के विकास और उसके बढ़ते मशीनीकरण से छोटी-मझोली किसानी चौपट हो रही है। सीमांत, छोटे और मझोले किसान बाजार व्यवस्था से जुड़कर तबाह हो रहे हैं बाजार की उथल-पुथल और ऋणग्रस्तता उन्हें चौपट कर रही है। इसी तरह मशीनीकरण के चलते खेतीहर मजदूरों की जरूरत कम हो रही है। इस तरह न केवल छोटी सम्पत्ति के मालिकों का सम्पत्तिहरण हो रहा है बल्कि वे देहात छोड़कर जा भी नहीं पा रहे हैं। इसका मुख्य कारण अद्योगों का धीमा विकास है। उद्योगों का जो विकास हो रहा है वह श्रम सघन होने के बदले मशीन केन्द्रित है। इससे श्रम शक्ति की खपत बहुत कम

हो पा रही है। सेवा क्षेत्र भी नये रोजगारों का भारी मात्रा में सृजन नहीं कर पा रहा है। बढ़ते कम्प्यूटरीकरण और मशीनीकरण ने इसे कठिन बना दिया है।

भारतीय कृषि का यह संकट उसके पूंजीवादी रूपान्तरण का परिणाम है। खेती का पूंजीवादी रूपान्तरण छोटे-मझोले किसानों और दस्तकारों को तबाह कर उन्हें बेशी आबादी में रूपान्तरित करता ही है। यूरोप-अमेरिका में भी यही हुआ था। लेकिन वहां बेशी आबादी या तो बढ़ते उद्योगों में खप गई या फिर व अन्य देशों में पलायन कर गई। भारत जैसे देशों के कंगाल किसानों के लिए ये दोनों ही रास्ते उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए वे बेहद कंगाली में देहातों में ही पड़े रहने को अभिशप्त हैं। हद से हद वे शहरों की झुग्गी-झोपड़ियों में समा सकते हैं। वहीं लंपट सर्वहारा की ओर जाने की ही उनकी संभावना ज्यादा है।

यदि यह क्रांतिकारी विस्फोट का रूप न ग्रहण करे तो भारतीय कृषि का यह संकट भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए चिंता की बात नहीं है। बल्कि यह उनके लिए फायदे की बात है। किसानों के कंगालीकरण से उनकी सम्पत्ति का हस्तांतरण हो रहा है। खेतीहर पूंजीपति (धनी किसान, कुलक और फार्मर) तो इसे हथिया ही रहे हैं साथ ही मशीनें, खाद, कीटनाशक इत्यादि बेचकर शहरी पूंजीपति भी इसे हथिया रहे हैं। वे इन छोटे-मझोले किसानों का बेशी श्रम ही नहीं हड़प रहे हैं वे उनकी सम्पत्ति भी हड़प रहे हैं। इसके साथ ही देहातों और शहरों दोनों जगह इससे मजदूरी कम हो रही है। यह पूंजीपति वर्ग के फायदे की बात है। इससे उसके द्वारा हड़पा जाने वाला बेशी मूल्य बढ़ता है। इन सबके कारण यदि कुल मिलाकर क्रय शक्ति कम होती है और पूंजीपति वर्ग के लिए अपने माल के लिए बाजार का संकट पैदा होता है तो इससे क्या? पूंजीपति वर्ग कब से अपना माल बेचने के लिए मजदूर-मेहनतकश जनता की क्रयशक्ति बढ़ाने लगा?

छोटे-मझोले किसानों के इस सम्पत्तिहरण से खेती में बड़ी खेती का विकास होगा। कृषि के विभेदीकरण और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया बढ़ेगी। यह सब धनी किसानों और कुलकों तथा शहरी पूंजीपति वर्ग के हित में है। भारत की सरकार ने जो नई कृषि नीति घोषित की है और जिसे भारत के शहरी पूंजीपति वर्ग का अनुमोदन प्राप्त है, वह खेती को इसी ओर धकेलेगी। वैविध्यीकरण के नाम पर व्यावसायीकरण बढ़ेगा और उसी के साथ खेती में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया भी बढ़ेगी। भारत का समूचा पूंजीपति वर्ग देहात के कंगालीकरण को इसी नजर से देख रहा है और इसीलिए नकली आंसू बहाने के बाद इसी दिशा में और ज्यादा बढ़ रहा है। किंकर्तव्यविमूढ़ किसान किसी क्रांतिकारी विकल्प के अभाव मे पस्त-हिम्मत हो रहे हैं ओर कोई चारा न देख भारी संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। कहने की बात नहीं कि इनका खून पूंजीवादी व्यवस्था व पूंजीपति वर्ग के माथे पर है।

देहातों में छोटे-मझोले किसान तबाह हो रहे हैं, वहां खेतिहर मजदूर रोजगार से वंचित हो रहे हैं और इन सबके परिणाम-स्वरूप शहरों में मजदूर वर्ग की पूंजी से सौदेबाजी की क्षमता गिर रही है। बढ़ती बेरोजगारी के दबाव के कारण मजदूर वर्ग की पूंजी के मुकाबले स्थिति कमजोर हो रही है। न केवल नये रोजगार में मजदूरी बहुत कम मिल रही है, न्यूनतम से भी नीचे और, वह भी 10-12 घंटे की, बल्कि पुराने मजदूर भी इसका दबाव महसूस कर रहे हैं। उन पर छंटनी की तलवार लटक रही है। उनके वेतन भत्तों में कटौती हो रही है। इस सबका सीधा असर मजदूर वर्ग के संघर्षों पर पड़ा है। मजदूर हड़तालों की संख्या लगातार कम होती गई है और उनकी सफलता की दर भी गिरती गई है। हालात यहां पहुंच गये हैं कि हड़ताल से ज्यादा पूंजीपति वर्ग लॉकआउट कर रहे हैं। मजदूर पूंजीपति को हड़ताल की धमकी नहीं दे रहे हैं बल्कि पूंजीपति मजदूर को लॉकआउट की धमकी दे रहे हैं। इन कारणों से मजदूरों के संगठन बिखर रहे हैं हालांकि स्थापित व्यवस्था परस्त ट्रेड यूनियन फेडरेशनों का इसमें बहुत बड़ा हाथ है।

इस बीच पूंजी मजदूर वर्ग पर सीधा हमला जारी रखे हुए है। 2002 में दूसरे श्रम आयोग ने अपनी रिपोर्ट पेश की और इसने ढेरों मजदूर विरोधी नीतियों की सिफारिश की। मजदूरों के आक्रोश के भड़कने के भय से सरकार इसकी सिफारिशों को सीधे लागू करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रही है लेकिन अन्यान्य तरीकों से यह जारी है। महिलाओं से रात की पारी में काम करवाने की छूट देने से लेकर न्यायालयों के ढेरों मजदूर विरोधी फैसले इसी दिशा में प्रयास हैं। इस बीच पहले से मौजूद कानूनों का ज्यादातर जगह पालन बंद हो चुका है और श्रम विभाग के अधिकारी पूंजीपतियों के नौकर बन गये हैं।

मजदूर वर्ग पर इस दबाव को छोटे और लघु उद्यमों की तबाही ने भी बढ़ाया है। पहले से आरक्षित क्षेत्रों को सरकार ने देशी-विदेशी इजारेदार पूंजी के लिए खोला है। इसके चलते इनकी प्रतियोगिता में छोटे उद्यम पिटे हैं। इनमें कार्यरत पूंजी इजारेदार डकार गये हैं जबकि मजदूर बेशी आबादी में शुमार हो गये हैं। छोटी पूंजी की यह तबाही उद्योग के क्षेत्र में केन्द्रीकरण को बढ़ा रही है और इजारेदारी की स्थिति को पुख्ता कर रही है। टाटा-बिड़ला-अंबानी के दिन बहुरे हुए हैं।

उपरोक्त सबके चलते निम्न पूंजीपति वर्ग और छोटी सम्पत्ति के मालिक तीखे संकट में हैं। वे पूंजी के ग्रास बन रहे हैं और मजदूर वर्ग में शुमार हो रहे हैं, उस मजदूर वर्ग में जिसकी श्रमशक्ति की कीमत गिरती जा रही है।

लेकिन पूंजीपति वर्ग और उसके लगुए-भगुए खुश हैं। उनका मुनाफा बेतहाशा बढ़ रहा है। वे बेशुमार दौलत इकट्ठी कर रहे हैं। जिस विकास से ये इतने उत्साहित हैं उस विकास से पैदा होने वाले धन को ही नहीं, छोटी सम्पत्ति वालों के पास पहले से मौजूद धन को भी वे डकार जा रहे हैं। इजारेदार पूंजी तो गैर इजारेदार पूंजी को भी डकार जा रही है। लेकिन इतना डकार कर उसकी भूख शांत नहीं हो रही है बल्कि पूंजी के चरित्र के अनुरूप और ज्यादा बढ़ रही है। वह और ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए हजारों प्रयास कर रही है।

पूंजीपति वर्ग की इस समृद्धि को मध्यम वर्ग का एक हिस्सा भी लालच भरी नजरों से देख रहा है। उसके प्रबंधक इंजीनियर बनकर वह उससे जूठन पाने की उम्मीद कर रहा है। पिछले सालों में देश में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आमद तथा बी०पी०ओ०, आई०टी०क्षेत्र ने उसकी हसरत बढ़ाई है। लेकिन ज्यादातर के लिए यह मृग-मरीचिका ही साबित होगी। वे इस हाईटेक युग में 'साइबर कुली' ही बनकर रह जायेंगे।

कुल मिलाकर, पिछले सालों में भी 1991 से शुरू हुई प्रक्रिया जारी रही तथा और आगे बढ़ी। भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकरण बढ़ा तथा इसी के अनुरूप उसके अंतर्विरोध भी बढ़े। सेवा क्षेत्र में भले ही 10 प्रतिशत का विकास हुआ हो लेकिन इसने अर्थव्यवस्था में निहित असमानता को तीखा ही किया। भारत का जो असमान, असंतुलित और विकृत पूंजीवादी विकास आजादी के बाद हुआ है, उसमें इन सालों में तेजी ही आई है। तेज वृद्धि दर इन्हें भी तेज कर रही है। दिल्ली-बम्बई में हाई-टेक युग में जी रहे पूंजीपति वर्ग और सुदूर देहातों की झोंपड़ियों में रहने वाले अधनंगे-भूखे लोगों पर एक नजर डाल लेना ही इसके लिए पर्याप्त होगा। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच, उद्योग और कृषि के बीच तथा शहर और देहात के बीच यह असमानता और असंतुलन बढ़ता ही जा रहा है। साथ ही बढ़ती जा रही है अर्थव्यवस्था में अराजकता। खेती के उत्पादों के दामों में अतीव उतार-चढ़ाव तो इसका नमूना भर है। इसके साथ बढ़ रही है जमीन की खरीद-फरोख्त करने वालों से लेकर भांति-भांति के सट्टेबाजों की गतिविधियां।

पूंजीवाद भारत में पूर्णतया सक्रिय है। लेकिन साथ ही वह अपनी कब्र खोदने में भी उतना ही सक्रिय है। वह जितना विकास करेगा, उतना ही अपने अंतर्विरोधों को बढ़ायेगा और उतना ही अपने अंत को समीप लायेगा।

भारत के शासक वर्ग मजदूर-मेहनतकश जनता को भ्रम में डालकर नियति को धोखा देना चाहते हैं। राजग सरकार ने पिछले संसदीय चुनाव के पहले 'इण्डिया शाइनिंग' का धुंआधार प्रचार करके चुनावों में अपनी नैय्या पार लगाने की कोशिश की। लेकिन जिन झोंपड़ियों में दीये की रोशनी भी न हो वे 'इंडिया शाइनिंग के झांसे में कैसे आ सकते थे। चुनावों ने भारतीय जनता पार्टी के प्रचार की पोल खोल दी और जनता के असंतोष को भुनाकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में संप्रग सत्तारूढ़ हो गया। सुधारवादी कम्युनिस्टों ने इस सरकार को बाहर से समर्थन देने का फैसला किया।

चुनावों में राजग और भारतीय जनता पार्टी के 'इंडिया शाइनिंग' का दिवाला निकल गया लेकिन भारतीय राजनीति में हिंदू साम्प्रदायिक शक्तियां कमजोर नहीं पड़ी हैं। संघ परिवार का हिंदुत्व का एजेण्डा जस का तस है और समाज में उसकी पहुंच में भी कमी नहीं आयी है। वोटों के एक भिन्न समीकरण के होने पर वे पुनः केन्द्र में सत्ताशीन हो जायेंगे। इस बीच उन्होंने अयोध्या के राम मंदिर मुद्दे को तरकश के तीर के तौर पर छुपा कर रखा हुआ है। वैसे भी कांग्रेस पार्टी ने काफी पहले नरम हिंदुत्व को स्वीकार कर लिया है।

पिछले चुनावों ने दिखाया कि समूची दुनिया की भांति भारत में भी समूची संसदीय पूंजीवादी राजनीति दक्षिणपंथ की ओर और ज्यादा खिसक रही है। किसी जमाने में कांग्रेस हटाओ का नारा देने वाले संशोधनवादी कम्युनिस्ट अब साम्प्रदायिक शक्तियों का विरोध करने के नाम पर कांग्रेस पार्टी की सरकार चला रहे हैं, उस पार्टी की जो 1980 के दशक के मुकाबले ज्यादा प्रतिक्रियावादी है, जो उदारीकरण की नीतियों की प्रस्तोता है और जिसने संघ परिवार से प्रतिद्वन्द्विता करते हुए नरम हिंदुत्व अपना लिया है। संशोधनवादी खिसक कर उस जगह जा पहुंचे है जब उनका एक व्यक्ति न केवल पूंजीपति वर्ग की संसद को चला रहा है बल्कि संसद की गरिमा को लेकर सबसे ज्यादा चिंतित है। संशोधनवादियों का यह चारित्रिक उद्घाटन दूरगामी तौर पर क्रांति के लिए फायदेमंद है क्योंकि मजदूर-मेहनतकश जनता में यह उन्हें बेनकाब कर उनसे मोहभंग की प्रक्रिया को तीव्र करता है। मजदूर वर्ग के भीतर से संशोधनवादियों के प्रभाव के खत्म हुए बिना मजदूर वर्ग का उत्थान संभव नहीं है।

इन चुनावी खेलों (इजारेदार पूंजी के राज्य के साथ सम्मिलन से संसद वैसे भी बहुत प्रासंगिक नहीं रह गई है। वह विभिन्न पार्टियों की नौटंकी का मंच बन गई है। गम्भीर बहस वहां नदारद है और विधेयक मिनटों में पास हो जाते हैं) से इतर शासक वर्ग की समस्यायें बदस्तूर उसे परेशान किये हुए हैं। एक तरफ उसकी करतूतों से उत्पन्न आतंकवाद है

तो दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की समस्यायें भी उसका जीना हराम किये हुए हैं। वर्षों से तनी हुई रस्सी पर नट सरीखा चलने वाला भारत का पूंजीपति वर्ग इन समस्याओं से परेशान होते हुए भी, इनका इस्तेमाल करने से बाज नहीं आ रहा है। वह न केवल आतंकवाद, अलगाववाद से लड़ने के नाम पर जनता पर अपने दमन को तेज कर रहा है, जनता के सभी संघर्षों को कुचल रहा है, जनवादी अधिकारों को सीमित कर रहा है, बल्कि वह धुंआधार प्रचार करके मजदूर-मेहनतकश जनता के एक हिस्से को अपने पीछे गोलबंद भी कर ले रहा है। वह अपने असली संकट से जनता का ध्यान हटाने का पुरजोर प्रयास कर रहा है और एक हद तक इसमें कामयाब भी हो रहा है। संशोधनवादी इसमें उसकी भरपूर मदद कर रहे हैं।

भारत की संसदीय राजनीतिक व्यवस्था का भ्रष्टाचार और पतन जारी है साथ ही जारी है उनकी आपसी उठा-पटक और अस्थिरता। राजनीतिक भ्रष्टाचार के इसी आलम के चलते संसद को अपने कुछ सदस्यों को बर्खास्त करना पड़ा। वे उस धंधे में लिप्त पाये गये जो अमेरिकी संसद में पूर्णतया नैतिक है। सांसद-विधायक और मंत्री एक के बाद एक अपराधों-भ्रष्टाचारों में पकड़े जाकर जेल के बाहर-भीतर आ-जा रहे हैं। संसदीय राजनीतिक व्यवस्था के इस पतन से पूंजीपति वर्ग चिंतित भी है लेकिन वह इसमें अपना योगदान भी दे रहा है। व्यक्तिगत पूंजीपति के बतौर यह उसमें अपना योगदान दे रहा है। जबकि एक वर्ग के बतौर यह चिंतित है। यह अंतर्विरोध बढ़ता ही जा रहा है। न्यायपालिका आगे बढ़कर इसे रोकना चाहती है लेकिन वह खुद भी गले तक भ्रष्टाचार में डूबी हुई है। सर्वोच्च न्यायालय के कुछ रंग-रोगन वाले फैसले इस प्रवृत्ति को बढ़ने से नहीं रोक सकते। बल्कि ऐसा करते हुए वह अपना मजदूर-मेहनतकश विरोधी चरित्र ही उजागर कर रहा है। दिल्ली में दुकानों का सीलिंग प्रकरण इसी की बानगी है।

2005-06 में अमेरिका के साथ परमाणु समझौता भारत की विदेश नीति में पिछले सालों में एक महत्वपूर्ण कदम है। इस समझौते के साथ भारत के पूंजीपति वर्ग ने अमेरिका के साथ अपनी रणनीतिक साझेदारी को परवान चढ़ाने की दिशा में काफी प्रगति कर ली है। सोवियत खेमे के पतन के बाद ही भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपनी नीति बदलनी शुरू की और फिर तय किया कि उसे अमेरिका के साथ रणनीतिक संश्रय कायम कर लेना है। वह पूरी दुनिया में फिलहाल हावी अमेरिकी साम्राज्यवादियों के साथ इस रिश्ते के तहत दक्षिण एशिया में अपनी दादागिरी करना चाहता है और बाकी दुनिया में भी कुछ जूठन पा लेना चाहता है। फिलिस्तीनी संघर्ष के समर्थन से क्रमशः पीछे हटना, इस्राइल से रिश्ते कायम करना, अमेरिका की दुनियाभर में उद्धत कार्यवाहियों पर चुप्पी साध लेना इत्यादि सब इसी का हिस्सा हैं। परमाणु समझौते के साथ यह एक नये मुकाम तक पहुंच गया है। इस समझौते के तहत यदि भारत के पूंजीपति वर्ग को अपनी कुछ संप्रभुता गंवानी पड़ी है, अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने उसे कुछ दबाया है, तो इससे क्या? यह सब उसे स्वीकार है। इन सबकी एवज में वह काफी कुछ पाने की उम्मीद करता है।

यह समझौता किस कदर महत्वपूर्ण था और इसने किस कदर भारतीय पूंजीपति वर्ग की पुरानी नीतियों को बदला उसका अंदाज इस बात से लगता है कि भाजपा सहित सभी शासक पार्टियों ने इसे मुद्दा बनाकर राजनीतिक फायदा उठाने की कोशिश की। सत्ता से बाहर की सभी पार्टियों ने इसका इस या उस कारण विरोध किया।

इस समझौते पर अंतिम मुहर लगने से पहले ही भारत के पूंजीपति वर्ग ने इस पर चलना शुरू कर दिया। उसने ईरान को धौंस में लेने की अमेरिकी साम्राज्यवादियों की कार्यवाही का अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी में समर्थन कर दिया। पाखंड और नंगई के चरम का प्रदर्शन करते हुए भारत सरकार ने घोषित किया कि वह अपने पड़ोस में किसी अन्य देश को परमाणु बम हासिल करते नहीं देखना चाहती।

इराक मसले पर भी भारत के पूंजीपति वर्ग ने इसी घृणित रुख का प्रदर्शन किया। भारत की संसद ने इराक पर अमेरिकी-ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हमले की भर्त्सना नहीं की। उसने केवल गोल-मोल भाषा में अपनी असहमति दर्ज की। उसकी असली मंशा तब उजागर हो गयी जब इराक पर कब्जे के बाद सरकार ने वहां अपनी सेना भेजने की मंशा प्रकट की। इस समय इराक की बंदरबांट में भारत के पूंजीपति वर्ग की कंपनियां भी कुछ टुकड़े हासिल करने की कोशिश कर रही हैं।

अफगानिस्तान के मामले में तो भारत का पूंजीपति वर्ग और भी नंगे रूप में पेश आया। तब की राजग सरकार ने अफगानिस्तान पर हमला करने के लिए भारत का इस्तेमाल करने की अमेरिका को पेशकश की थी। अब उस पर कब्जे के बाद सी.आई.ए. के भूतपूर्व एजेन्ट करजई की तथाकथित सरकार को, जो नाम को भी सरकार नहीं है, उसने मान्यता प्रदान कर दी। भारत सरकार अफगानिस्तान में अपनी उपस्थिति लगातार बनाये हुए है और वहां अमेरिकी साम्राज्यवादियों के साथ ताल-मेल बैठाने की कोशिश कर रही है। इस सबमें यदि वहां भारत के आम नागरिक मारे जा रहे हैं, तो इससे क्या? पूंजीपति वर्ग को अपने हितों के आगे इन सबकी कब से फिक्र होने लगी।

पिछले चार-पांच सालों में फिलिस्तीन में इस्राइल के नरसंहार पर भारत सरकार चुप्पी साधे हुए है और इस्राइल से अपने सम्बंध सुधारना जारी रखे हुए है। खबर यहां तक है कि इस्राइली भारतीय सेना द्वारा कश्मीर में विद्रोह के दमन से सीखने आये थे।

यह जगजाहिर है कि भारत के अमेरिका से रणनीतिक साझेदारी का एक प्रमुख निशाना चीन है। चीन की लगातार बढ़ती ताकत से दोनों ही भयभीत हैं। लेकिन फिलहाल भारत के शासक चीनी शासकों से टकराने के बदले मेल-मिलाप पर चल रहे हैं। सीमा-विवाद पर तूल देने के बजाय दोनों ही अपने आर्थिक संबंधों को बढ़ा रहे हैं। दोनों के बीच आयात-निर्यात तेजी से बढ़ रहा है।

भारत ने अपने पड़ोसी देशों से क्षेत्रीय दादा के संबंध पिछले चार-पांच सालों में बखूबी प्रदर्शित किये। अमेरिका के 11 सितम्बर की तर्ज पर भारत की सरकार ने 13 दिसम्बर का कांड रचा और फिर अपनी सेनायें पाकिस्तान की सीमा पर तैनात कर दीं। वह मौके का फायदा उठाकर पाकिस्तान को दबाव में लेना चाहती थी। लेकिन अफगानिस्तान में कब्जे के प्रयास में उलझे अमेरिकी साम्राज्यवादियों को यह नागवार गुजरा। उन्होंनें भारत सरकार के इरादों पर असहमति जताई और फिर दसियों हजार करोड़ रुपये तथा सैकड़ों सैनिकों और आम नागरिकों की जान लेकर सेना 18 महीने बाद अपनी बैरकों में चली गई। इस युद्धोन्माद के बाद इसका उलटा नाटक शुरू हुआ और तब से भारत-पाकिस्तान दोनों सरकारों के बीच थोड़ा नरम-गरम होते हुए मेल-मिलाप का सिलसिला जारी है। दक्षिण एशिया के दोनों प्रमुख देशों के शासक पूंजीपति वर्ग के बीच सहयोग और संघर्ष का यह खेल अनवरत चल रहा है। एक रूप में यह भारत के पूंजीपति वर्ग की दक्षिण एशिया में प्रभुत्वकारी शक्ति के रूप में मान्यता पाने की इच्छा तथा पाकिस्तानी पूंजीपति वर्ग की इसे मान्यता न देने की इच्छा की अभिव्यक्ति है।

लेकिन यदि पाकिस्तानी पूंजीपति वर्ग भारत की क्षेत्रीय शक्ति की हैसियत को स्वीकार करने को तैयार नहीं है तो बांग्लादेश के शासक भी पिछले सालों में इस ओर बढ़े हैं। 1971 में अलग बांग्लादेश बनने के बाद से ही, जिसमें भारत के शासक वर्गों ने अहम भूमिका निभाई, भारत के शासक बांग्लादेश को अपना संरक्षित राज्य मानते रहे हैं। लेकिन बांग्लादेश के शासकों ने पिछले सालों में भारतीय शासकों की धौंस-पट्टी का प्रतिरोध किया है तथा सीमा पर दोनों पक्षों की सेनाओं के बीच झड़पें तक हुई हैं। भारतीय शासकों की क्षेत्रीय दादागिरी से इसके अलावा कोई परिणाम नहीं निकल सकता। हालांकि भारत और बांग्लादेश के बीच सम्बंध उतने तनावपूर्ण नहीं हैं जितने भारत और पाकिस्तान के बीच लेकिन अब वे इतने सौहार्दपूर्ण भी नहीं रह गये हैं।

श्रीलंका के शासक वर्गों की स्थिति थोड़ी भिन्न है। वे अपने यहां अलग तमिल राष्ट्र की मांग को कुचलने में नाकामयाब साबित हो रहे हैं। ऐसे में उन्होंने भारतीय शासकों से इस मामले में मदद की उम्मीद में इनके सामने हाथ पसारे हैं। भारतीय शासक श्रीलंका में दोहरी चालें चल रहे हैं। वे अलग तमिल राष्ट्र नहीं देखना चाहते क्योंकि यह वृहत्तर तमिल राष्ट्र की मांग को जन्म दे सकता है। लेकिन साथ ही वे श्रीलंकाई शासकों को दबाव में लेने के लिए अंदरखाने इस आंदोलन को शह भी देते रहते हैं। थक-हार कर श्रीलंकाई शासक इनके दरबार में हाजिरी लगाने को मजबूर होते हैं।

पिछले चार-पांच सालों में नेपाल भारतीय शासकों के लिए सबसे बड़ा सिरदर्द साबित हुआ है। विशेष रिश्तों के नाम पर भारतीय शासकों ने नेपाल के साथ बेहद गैरबराबरी और प्रभुत्व के सम्बंध बना रखे हैं। इसके लिए वे नेपाली राजशाही और अन्य शासकों पर निर्भर थे, तथाकथित 'दो स्तम्भ नीति' पर। लेकिन नेकपा (माओवादी) के नेतृत्व में चले जनयुद्ध ने, जो साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवाद के खिलाफ भी लक्षित था, इनके लिए परेशानी पैदा कर दी। भारतीय शासकों ने जनयुद्ध को कुचलने के लिए नेपाली शासकों को हरसंभव मदद दी। लेकिन इसके बावजूद जनयुद्ध आगे बढ़ता रहा और राजशाही के लिए खतरा बन गया। काफी ऊहापोह के बाद भारतीय शासकों ने अपनी रणनीति बदली और राजशाही के अवसान को एक नियति के तौर पर स्वीकार कर लिया। अब उन्होंने अपनी सारी आशायें सातों संसदीय पार्टियों पर टिका दीं जो भारत के साथ पुराने रिश्तों को बनाये रखने की इच्छुक हैं। नेपाली क्रांति के साथ भारतीय शासकों का लुका-छिपी का खेल जारी है लेकिन इतना तय है कि नेपाल में समाजवाद की ओर कदम बढ़ने पर भारतीय शासक उसके खिलाफ किसी भी हद तक जाने से नहीं चूंकेंगे। इसके विपरीत यदि नेपाल संसदीय जनतंत्र तक सीमित होकर रह जाता है तब भारतीय शासक पुराने रिश्तों को नये सिरे से ढालकर उसके साथ ताल-मेल बैठाने को तैयार हो जायेंगे। लेकिन इस तालमेल में उनकी प्रभुत्वशाली मंशा बरकरार रहेगी।

सभी पड़ोसी देशों से इस तरह के रिश्तों के चलते, भारतीय शासकों की छिपी-खुली दादागिरी के चलते दक्षिण एशिया सहयोग संगठन 'सार्क' में कोई प्रगति नहीं हो पा रही है। इस इलाके का एक आर्थिक क्षेत्र 'साफ्टा' बनाने की योजना तो और भी ज्यादा खटाई में पड़ी हुई है। ये दोनों ही आगे तब बढ़ सकते हैं जब बाकी देशों के शासक भारतीयों

की प्रभुत्वशाली स्थिति को स्वीकार करने को तैयार हो जायें। फिलहाल तो सहयोग के बदले संघर्ष ही प्रमुख बना हुआ है।

भारतीय शासक वर्गों की महत्वाकांक्षाएं दक्षिण एशिया से बाहर भी पांव पसार रही हैं। पश्चिमी, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों द्वारा, म्यांमार के शासकों के खिलाफ जनवाद का सारा शोर-शराबा मचाने के बावजूद भारतीय शासक उनके साथ नजदीकी सम्बंध बनाये हुए हैं। पिछले सालों में इन्होंने म्यांमार होते हुए थाईलैण्ड तक सड़क बनाने की परियोजना पर काम शुरू किया है। म्यांमार में शासकों के साथ बंदरगाह समझौता किया। अफगानिस्तान में तो वे वर्षों से अपना पांव जमाने का प्रयास कर रहे हैं। भारतीय शासक उन कुछ देशों में थे जो तालिबान के विरोधियों को सैनिक मदद देते थे।

अपनी इन्हीं महत्वाकांक्षाओं के तहत भारतीय शासक संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में अपने लिए स्थाई सदस्यता की मांग कर रहे हैं। एक अरसे से सुरक्षा परिषद के पुनर्गठन की बात होती रही है। भारतीय पूंजीपति वर्ग सोचता है कि सुरक्षा परिषद की स्थाई सदस्यता पाने के बाद इसकी सौदेबाजी की क्षमता बढ़ जायेगी तथा अपनी क्षेत्रीय व वैश्विक महत्वाकांक्षायें पूरी करना इसके लिए आसान हो जायेगा। फिलहाल बाकी साम्राज्यवादी इसके लिए तैयार नहीं हैं। भारतीय शासकों का रणनीतिक संश्रयकारी अमेरिकी साम्राज्यवाद इसका सबसे ज्यादा विरोधी है। वह नहीं चाहता कि भारतीय शासक उसके साथ सुरक्षा परिषद में बैठकर सौदेबाजी करें।

भारतीय शासक वर्ग इन्हीं आन्तरिक और वाह्य नीतियों के साथ भारत की जनता पर शासन कर रहा है। उनका भयानक शोषण करने के साथ वह इसके विरोध्र में उठने वाली हर आवाज का दमन कर रहा है। वह सबसे ज्यादा ध्यान पुलिस और सेना के विकास पर लगा रहा है। वाहे मजदूर हों, चाहे किसान, चाहे अन्य मेहनतकश, वह सबके लिए गोली का प्रबन्ध कर रहा है। क्योंकि रोटी न मिलने पर लोगों का विद्रोह पर उतरना लाजिमी है।

लेकिन शासक वर्ग के दूरगामी शासन के लिए यह जरूरी होता है कि वे गोली का इस्तेमाल कम से कम करें, उसे अंतिम समय के लिए संभाल कर रखें। केवल गोली पर उतरने के बाद किसी भी शासन के दिन अक्सर गिने-चुने रह जाते हैं। शासकों के लिए ज्यादा जरूरी है कि लोग, शोषित लोग, उनके वैचारिक प्रभुत्व को स्वीकारें। शासकों के विचार शोषितों के विचार भी बने रहें। अपने विचारों को वे हजारों तरीकों से शोषितों के बीच प्रसारित करते हैं।

निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की प्रक्रिया शुरू होने के साथ-साथ ही देश में जिस साम्राज्यवादी उपभोक्तावादी संस्कृति का तेजी से संचरण हुआ था वह पिछले सालों में और तेज हुआ है। केबल टी०वी० ने तो पहले ही शहरों-कस्बों में घर-घर पैठ बना ली थी, मोबाइल फोन और इंटरनेट ने भी इस बीच तेज प्रसार किया है। इन सबके चलते साम्राज्यवादी संस्कृति की पहुंच बहुत दूर तक हो गयी है। हालत यहां पहुंच रहे हैं कि सबसे संवेदनशील तबके यानी युवा वर्ग के लिए नया साल और वैलेन्टाइन डे सबसे महत्वपूर्ण त्यौहार हो गये हैं। पारंपरिक त्यौहारों मसलन राखी, दीवाली, ईद इत्यादि का भी तेजी से व्यावसायीकरण हो रहा है।

चूंकि सह सारा कुछ देशी-विदेशी इजारेदार पूंजी द्वारा संचालित है, जिसमें प्रमुख भूमिका साम्राज्यवादी पूंजी की है, इसलिए सबका एक ही मकसद है- माल बेचना। उपभोक्ता तैयार करना और ज्यादा से ज्यादा माल बेचना इसका उद्देश्य है।

यह उपभोक्तावाद, उसे हासिल करने के लिए पैसे के पीछे भागमभाग, सारे पुराने रिश्तों को उलट-पलट दे रहा है। चूंकि देश की आजादी के बाद के पूंजीवादी विकास ने आर्थिक तौर पर पहले ही सम्बन्धों को पूंजीवादी, आने-पाई का बना दिया था इसीलिए सांस्कृतिक स्तर पर तीखे उलट-फेर के लिए जमीन पहले से तैयार थी। अधिरचना में तीव्र उलट-फेर के लिए आधार पहले ही तैयार हो गया था। पिछले पन्द्रह सालों में यह उलट-फेर तेजी से हुआ है और यह तेज गति से जारी है। पहले बड़े शहर, फिर छोटे शहर, फिर कस्बों से देहातों तक यह चीज क्रमशः फैल रही है। इसी तरह यह जीवन के एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र को, एक रिश्ते के बाद दूसरे रिश्ते को अपनी जद में लेती जा रही है।

सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में इस पूंजीवादी उलट-फेर ने खुदगर्जी को जिस स्तर तक बढ़ाया है, पूंजीवादी व्यक्तिवाद को जो ऊंचाइयां प्रदान की हैं, उसने भारत जैसे पिछड़े समाज में तीव्र विग्रहों को जन्म दिया है। जिस समाज में बूढ़ों और बेरोजगारों के लिए सरकार की ओर से सामाजिक सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न हो वहां, इस खुदगर्जी से पैदा होने वाले परिणामों का अंदाजा लगाया जा सकता है। बूढ़े-बेबस लोग अपनों द्वारा त्याग दिये जा रहे हैं और उन्हें देखने-भालने वाला कोई नहीं है। पिछले सालों में सरकारों ने इस समस्या से घबराकर बूढ़ों को पेंशन, नौजवान बेरोजगारों को कुछ भत्ता, अपने बूढ़े मां-बाप को त्यागने वाले बच्चों के खिलाफ कार्यवाही इत्यादि के कानून बनाये हैं लेकिन ये समस्या की विकरालता बल्कि बढ़ती जाती विकरालता को देखते हुए कुछ भी नहीं हैं। भारत के पूंजीपति वर्ग के लोमड़ी

और सियार जैसे चरित्र और उसके संकट को देखते हुए इन सबके प्रभावी होने की संभावना नहीं है। ये भारतीय पूंजीवाद के अंतर्विरोधों को तीखा करने का ही काम करेंगे।

तेजी से बदलते सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के चलते पीढ़ियों के बीच खाई, संवादहीनता, अकेलापन, अजनबीयत, संत्रास, हिंसा, अपराध, नशाखोरी इत्यादि सब तेजी से बढ़े हैं। पुरानी नैतिकता तेजी से टूट रही है और उस पर नयी नैतिकता तेजी से आरोपित हो रही है जिसके स्रोत साम्राज्यवादी संस्कृति में हैं। एक पुरानी संस्कृति तेजी से तुड़-मुड़ कर साम्राज्यवादी संस्कृति में ढल रही है। बांके-बिहारी कोट पैंट और हैट पहन ले रहे हैं।

न केवल आर्थिक बल्कि इस सांस्कृतिक रूपान्तरण ने भी असमानता को तेज किया है। इसने तीसरी दुनिया के भीतर एक पहली दुनिया बसाई है। अब पश्चिमी उपभोक्ता सामानों का मजा लेने के लिए या वहां की पतित संस्कृति में उभ-चुभ करने के लिए पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में जाने की जरूरत नहीं है। अब वे यहीं, भुखमरी-कंगाली के बीच इसी तीसरी दुनिया में उपलब्ध हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उच्च शिक्षा संस्थानों में शिक्षा हासिल करने वाले छात्र अब पश्चिम की ओर पलायन करने के बदले यहीं रहना पसंद कर रहे हैं। देशी-विदेशी इजारेदार पूंजी, खासकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियां उन्हें यहीं पर सब उपलब्ध करा रही हैं। कंगाली के बीच यह अश्लील उपभोग विकृत उपभोक्तावादी मष्तिष्क को और ज्यादा संतुष्टि प्रदान करता है।

इस बीच देश की बहुलांश गरीब, मजदूर-मेहनतकश आबादी के बच्चों को प्राप्त शिक्षा के स्तर का गिरना जारी है। शिक्षा का बाजारीकरण और विभेदीकरण जारी है। विदेशी पूंजी को देश में उच्च शिक्षा संस्थान खोलने की अनुमति के साथ यह प्रक्रिया तो पहले ही इस दिशा में काफी प्रगति कर चुकी है।

महिला मुक्ति का सवाल देश के सामाजिक एजेण्डे पर आ जाने के बावजूद शासक पूंजीपति वर्ग द्वारा अपने चरित्र के अनुरूप इसमें तरह-तरह से बाधा डालने के प्रयास जारी हैं। आलम यह है कि वह इसमें अपना सबसे बड़ा योगदान महिलाओं से रात की पाली में काम करवाना मानता है। संसद में आरक्षण का महिला विधेयक सालों के बाद भी लटका हुआ है। दबे-कुचले लोगों को जनवाद प्रदान करने को सबसे बेहतर तरीका आरक्षण मानने वाले शासक वर्ग के बीच महिलाओं के इस आरक्षण पर आपसी जंग जारी है। दूसरी ओर उन्होंने महिलाओं पर घरेलू हिंसा रोकने के लिए कानून पास कर दिया। महिला मुक्ति के मामले में भी सुधारवादी पूंजीपति वर्ग के सुधारों वाला नुस्खा जारी है। इस बीच अपनी मुक्ति की आकांक्षा में छटपटाती महिलाएं नारकीय यंत्रणा झेलते हुए स्वयं ही इस दिशा में कदम-ब-कदम बढ़ रही हैं।

देश की राजनीति में पिछले सालो में यह परिवर्तन आया है कि एक ओर दलित पार्टियों का अन्य पार्टियों व समूहों से अवसरवादी तालमेल बढ़ा है तो दूसरी ओर मोहभंग का शिकार हुए लोगों ने अपनी स्थिति के प्रति आक्रोश को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त किया है। बसपा का सवर्ण प्रेम अब जग जाहिर हो चुका है। वह दलित एजेण्डे से आगे बढ़कर सर्वजन पार्टी बनने की ओर बढ़ चुकी है। आर.पी.आई. तो महाराष्ट्र की अन्य पार्टियों द्वारा आत्मसात ही कर ली गई है। राम विलास पासवान जैसे लोग बेपेंदी के लोटे हैं, किधर भी लुढ़क जायेंगे। वे बिना कुर्सी के कभी नहीं रहते, वक्त रहते पाला बदल लेते हैं। दूसरी ओर, दलित उत्पीड़न की घटनाओं पर पिछले सालों में स्वतः स्फूर्त आक्रोश फूटे हैं। दलितों ने सामूहिक विरोध प्रदर्शन किया है। यह सब इस बात का सूचक है कि भारत में जाति व्यवस्था और जातिगत-उत्पीड़न अपने टूटन के एक गुणात्मक मोड़ तक पहुंच रही है। मजदूर-मेहनतकशों की वर्गीय लामबंदी का रास्ता क्रमशः ज्यादा सुगम हो रहा है।

अपनी लगातार खराब होती जाती स्थिति के खिलाफ मजदूरों-मेहनतकशों के संघर्ष पिछले वर्षों में भी लगातार जारी रहे हैं। हालांकि ये रक्षात्मक ही रहे हैं, तो भी इन्होंने शासक वर्गों को अपने मन की करने से एक हद तक रोका है, अपनी स्थिति को और ज्यादा बदतर हो जाने से एक हद तक बचाया है।

मजदूर वर्ग ने सरकार की निजीकरण-उदारीकरण की नीति के खिलाफ अकेले-अकेले और सामूहिक तौर पर पिछले सालों में कई बार प्रतिरोध संघर्ष किये हैं। चूंकि ये सब स्थापित बुर्जुआ या सुधारवादी ट्रेड यूनियों के नेतृत्व में हुए हैं इसलिए इन सबकी एक सीमा थी लेकिन तब भी इन्होंने निजीकरण-उदारीकरण के रथ की रफ्तार कम करने में भूमिका निभायी है। बेरोजगारी की भीषण मार के बावजूद मजदूरों ने अलग-अलग संस्थानों में अपने मालिकों के खिलाफ हड़तालें और अन्य संघर्ष किये हैं।

किसानों ने भी बाजार की शक्तियों से त्रस्त होकर, स्थानीय शोषकों का शिकार होकर या सरकारी नीतियों की मार खाकर चुपचाप समर्पण नहीं किया है। यदि इनसे परेशान और निराश होकर कुछ किसान आत्म हत्या कर रहे हैं तो उससे भी ज्यादा प्रतिरोध पर उतर रहे हैं। पंजाब से लेकर राजस्थान तक इन किसानों ने शहरों में घेरा डाला है। सरकार ने

इन्हें कई जगह गोलियों का निशाना बनाया है। कृषि का कंगालीकरण होने के साथ ही किसानों का यह संघर्ष और उग्र तथा व्यापक होगा।

जल, जंगल जमीन पर अपने अधिकारों के लिए तथा अपनी ही जमीन से बेदखल किये जाने के खिलाफ जनजातियों ने भी अनेकों संघर्ष चलाए हैं। इन्हें भी सरकार की गोलियों का शिकार होना पड़ा है। भारत का पूंजीपति वर्ग इन पिछड़े लोगों को अपने पूंजीवादी विकास के रास्ते में बाधा नहीं बनने दे सकता। वह स्वीकार नहीं कर सकता कि ये जाहिल लोग उसके बेशी मूल्य के विस्तार में और अधिकाधिक पूंजी संचय के रास्ते ने रोड़ा अटकायें। यदि वे सीधे नहीं मानेंगे तो उन्हें गोलियों से ठीक करना पड़ेगा। लेकिन दूसरी ओर, गोलियां भी जिंदगी के संघर्षों को नहीं रोक सकतीं।

पिछले सालों में भी राष्ट्रीयताओं के संघर्ष बदस्तूर जारी रहे। सरकार ने कश्मीर, आसाम, मणिपुर, नागालैण्ड हर जगह डंडे और गाजर की नीति अपनाई। सरकार ने इन आंदोलनों के नेताओं को फुसलाने के कई प्रयास किये। इसके लिए उसने मणिपुर और नागालैण्ड के लोगों को आपस में लड़ाने का प्रयास भी किया। मणिपुर में इसके खिलाफ तीखा आक्रोश फूट पड़ा था। थोड़ा नरम-गरम होते हुए भी ये सारी ही समस्यायें जहां की तहां है और भारत का पूंजीपति वर्ग इन्हें हल करने की ओर नहीं बढ़ सका है। वह बढ़ भी नहीं सकता।

इस बीच देश में एम.सी.सी.और भाकपा (माले) पी.डब्लू. के बीच एकता और भाकपा (माओवादी) बनने के बाद इनकी गुरिल्ला गतिविधियों में वृद्धि हुई। सरकार ने इससे निपटने के लिए केन्द्र स्तर पर एक समन्वय समिति का गठन भी किया। सरकार ने अपने वक्तव्यों में इसे गंभीर समस्या के रूप में चिन्हित किया। लेकिन ये गुरिल्ला कार्यवाहियां शासक वर्गों के लिए कानून व्यवस्था की समस्या से ज्यादा नहीं हैं। वे व्यवस्था के लिए खतरा नहीं हैं। और वे हो भी नहीं सकतीं। भारतीय क्रांति की रणनीति और कार्यक्रम की गलत समझदारी के चलते ये गतिविधियां किसी मुकाम तक नहीं पहुंच सकतीं। ये और ज्यादा दुर्गम स्थलों में सिमटने के लिए बाध्य हैं। पूंजीपति वर्ग की सफाये और सुधार की नीति इन्हें और ज्यादा दुर्गम और पिछड़े इलाकों में धकेलेंगी। तात्कालिक तौर पर सरकार के लिए कानून और व्यवस्था की समस्या पैदा करने के बावजूद ये गतिविधियां क्रांति की शक्तियों का अपव्यय ही हैं।

लेकिन इस एकता के सकारात्मक पहलू भी हैं। इसने भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन की फूट को कुछ कम किया है। इसने सशस्त्र संघर्ष में रत संगठनों की एकता की प्रक्रिया को बढ़ाया है। इससे न केवल सरकार के सामने चुनौती बढ़ी है बल्कि इस लाइन की विसंगतियों के उजागर होने का रास्ता साफ हुआ है। यह भविष्य में भारतीय क्रांति की सही लाइन तक पहुंचने में मददगार होगा।

अन्य कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठनों में भी एकता की कुछ प्रक्रियाएं चली हैं। इनसे टूट-बिखराव कुछ कम हुआ है। इसी के साथ संगठनों की ताकत में मात्रात्मक वृद्धि होने के चलते समग्र रूप में भारत के पूंजीपति वर्ग के सामने क्रांतिकारी आंदोलन की चुनौती आज पहले से कहीं ज्यादा है। इन सभी ताकतों की एकता यदि संभव हो सके तो यह चुनौती को गुणात्मक रूप से बढ़ा देगी।

आने वाला समय भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए और भी ज्यादा संकटों का समय है। 8 प्रतिशत वृद्धि के बावजूद, बल्कि इसके कारण ही इसके सारे अंतर्विरोध और ज्यादा गहरायेंगे। भारतीय मजदूर-मेहनतकश जनता का जीवन और ज्यादा बदहाल होगा। वह प्रतिरोध और संघर्ष के लिए आगे बढ़ेगी। यह भारतीय क्रांति के लिए ज्यादा अनुकूल माहौल पैदा करेगा। इस स्थिति में हमें कहीं ज्यादा शिद्दत के साथ भारत की मजदूर-मेहनतकश जनता को क्रांति के लिए लामबंद करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। देर-सबेर विजय हमारी होगी।

■■■